छत्तीसगढ़ नवीन डी.एड. पाठ्यक्रम

यह पठन सामग्री छत्तीसगढ के डी. एड. छात्रों के लिए विशेष रूप से तैयार किया गया है। इन्हें विभिन्न स्त्रोतों से लिया गया है तथा आवश्यकतानुसार पाठकों के ज़रूरतों को ध्यान में रखते हुए संक्षिप्त किया गया है। अतः पाठकों से अनुरोध है कि यथासम्भव मूल सामग्री को पढ़ने का प्रयास करें।

इस पठन सामग्री को तैयार करने में एकलव्य, सीईआरसी, अजीम प्रेमजी फाउंडेशन, आईसीईई, आईआईटी कानपुर तथा छत्तीसगढ के विभिन्न डाईट से आए साथियों ने मदद की हैं। सभी साथियों को धन्यवाद।

डी.एड. प्रथम वर्ष पाठ्यक्रम
विषयः– शाला एवं समुदाय

सिलेबस एवं पठन सामग्री

इकाई – 1 समाज में विविधता व असमानता व भेदभाव भाग 1

(क) विषय प्रवेश

1. विविधता की समझ, "हमारा राजनैतिक व सामाजिक जीवन" कक्षा 6, अध्याय 1, एन.सी.ई.आर.टी. प्रकाशन।
2. विविधता एवं भेदभाव, "हमारा राजनैतिक व सामाजिक जीवन" कक्षा 6, अध्याय 2 एन.सी.ई.आर.टी प्रकाशन।

(ख) जाति व जनजाति

3. वर्ण और जाति "भारतीय समाज" एस.सी.दुबे, एन.बी.टी. प्रकाशन तथा "सामाजिक संस्थाः निरस्तरता एवं परिवर्तन," भारतीय समाज कक्षा– 12, अध्याय– 3, एन.सी.ई.आर.टी. प्रकाशन।
4. जनजातीय समुदाय – "सामाजिक संस्थाः निरस्तरता एवं परिवर्तन," भारतीय समाज कक्षा– 12, अध्याय– 3, एन.सी.ई.आर.टी. प्रकाशन पर आधारित
5. वर्तमान भारत में दलितों की स्थिति व दलित शिक्षा के प्रभाव (डॉ. बालचन्द्र मुंगेकर, पूर्व उप कुलपति, मुम्बई विश्वविद्यालय के आलेख पर आधारित)
6. जाति व्यवस्था का शिक्षा पर प्रभाव – कुछ अनुभव – ओमप्रकाश वाल्मीकि, जूठन, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली; 2003 तथा दलित आदिवासी और स्कूल, सं. लाल बहादुर ओझा, समावेश, भोपाल 2003

इकाई – 2 विविधता व असमानता भाग 2

(क) सामाजिक स्तरीकरण

7. समाज में विषमताएँ – एक परिचय
8. मार्क्स और वेबर, "समाज और स्तरीकरण" – 2 ESO –14 इग्नु का प्रकाशन।
9. सामाजिक वर्ग (मेघन सिराज ब्लैचफोर्ड, Educational Life Chances or Who Gets What? के एक अध्याय पर आधारित)
10. छत्तीसगढ में काम के तलाश में पलायन (एक अध्ययन पर आधारित संक्षेप)
11. प्राथमिक शिक्षा को मजबूती प्रदान करने वाली पिछली व अगली कड़ियाँ, (संक्षिप्त सिंहावलोकन) विमला रामचन्द्रन

    Vimala Ramachandran, (ed) Getting Children Back to School, Sage New Delhi 2003 "Overview: backward and forward linkages that strengthen primary education"

(ख) जेण्डर

12. भला यह जेण्डर क्या हैं? कमला भसीन, जागोरी, दिल्ली, 2009
13. पितृसत्ता क्या है? कमला भसीन, जागोरी, दिल्ली 2009

(ग) विषमता व बहिष्कार

14. "सामाजिक विषमता एवं बहिष्कार" एन.सी.ई.आर.टी. कक्षा 12, समाजशास्त्र पाठ्यपुस्तक से

इकाई – 3 संवैधानिक उद्देश्य, मौलिक अधिकार और उनकी प्राप्ति में शिक्षा की भूमिका

15. संविधान की उद्देशिका (एन.सी.ई.आर.टी. कक्षा 7, हमारा सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन पाठ्यपुस्तक से)

16. "मौलिक अधिकार भारत का संविधान, सिद्धान्त और व्यवहार", कक्षा 11 वीं के लिए राजनीति विज्ञान की पुस्तक, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद, 2006 पृष्ठ – 28 से 42.

17. "आर्थिक विकास एवं सामाजिक अवसर" भारत विकास की दशाएँ, अमर्त्य सेन, राजपाल, प्रकाशन, दिल्ली 2007, पृष्ठ– 19 से 24 पर आधारित

इकाई – 4 अँग्रेज़ी शासन काल में शिक्षा व्यवस्था

(क) अँग्रेज़ी पूर्व शिक्षा व्यवस्था–

18. प्राक– ब्रिटिश काल में देशज शिक्षा, "देशज शिक्षा औपनिवेशिक विरासत और जातीय विकल्प" पृष्ठ, 1–17 परमेश आचार्य, ग्रन्थ शिल्पी प्रकाशन।

(ख) औपनिवेशिक शिक्षा

19. मैकाले मिनिट्स आदि दस्तावेजों से

20. "उपनिवेशवाद और शिक्षा" – अविजित पाठक के लेख पर आधारित (Avijit Pathak, Social Implications of Schooling : Knowledge, Pedagogy, And Conciousness . Rainbow Publishers Ltd New Delhi 2002)

21. "समानता की खोज", कृष्ण कुमार – गुलामी की शिक्षा और राष्ट्रवाद, ग्रंथ शिल्पी नई दिल्ली, 2006 के लेख पर आधारित

इकाई – 5 वैकल्पिक सोच व प्रयोग

22. कवि का स्कूल – टैगोर

23. शिक्षा के विषय पर महात्मा गाँधी के विचार कृष्ण कुमार के लेख पर आधारित

24. "टैगोर और गाँधी के शैक्षिक आदर्शों का तुलनात्मक अध्ययन" – परमेश आचार्य के लेख पर आधारित

25 आर्य समाज सुधार आंदोलन का शिक्षा दर्शन /शिक्षा में योगदान

इकाई – 6 शाला के कामकाज में समुदाय की भूमिका

26 वर्तमान छत्तीसगढ में पी.टी.ए. ग्राम तथा आदि की भूमिका

विषय सूची

1. विविधता की समझ.....7
2. विविधता एवं भेदभाव.....16
3. वर्ण और जाति.....24
4. जनजातीय समुदाय.....36
5. वर्तमान भारत में दलितों की स्थिति व दलित शिक्षा के सवाल.....41
6. जाति व्यवस्था का शिक्षा व शिक्षण पर प्रभाव.....46
7. समाज में विषमताएँ एक परिचय.....55
8. मार्क्स और वेबर.....57
9. आर्थिक समानता और शिक्षा.....64
10. काम के लिए पलायन तथा बच्चों की शिक्षा.....69
11. प्राथमिक शिक्षा को मज़बूती प्रदान करने वाली पिछली और अगली कड़ियाँ.....70
12. भला यह जेण्डर क्या है?.....80
13. पितृसत्ता क्या है?.....87
14. सामाजिक विषमता एवं बहिष्कार.....91
15. भारत का संविधान : उद्देशिका.....106
16. भारतीय संविधान में मौलिक अधिकार.....107
17. आर्थिक विकास एवं सामाजिक अवसर.....116
18. प्राक्–ब्रिटिश काल में देशज शिक्षा.....121
19. दस्तावेजों से.....132
20. उपनिवेशवाद और प्रभुत्व के सिद्धान्त की तरह शिक्षा.....134
21. समानता की खोज में.....145
22. कवि का स्कूल.....149
23. शिक्षा के विषय पर महात्मा गाँधी के विचार.....159
24. टैगोर और गाँधी के शैक्षिक आदर्शों का तुलनात्मक अध्ययन.....164
25 आर्य समाज सुधार आंदोलन का शिक्षा दर्शन/शिक्षा में योगदान 174
26. शालेय प्रबन्धन एवं विकास में सामुदायिक सहभागिता.....176

इकाई– 1
समाज में विविधता, असमानता व भेदभाव
भाग– 1

इस इकाई में हम किसी भी देश या समाज में उपस्थिति विविभन्नताओं के बारे में पढ़ेंगे– कैसे ये विभिन्नताएँ समाज को समृद्ध करती हैं और साथ ही कुछ व्यवहारिक समस्याओं को भी उत्पन्न करती हैं।

इस इकाई में विविधता व असमानता के बीच फर्क करने की कोशिश है। किस प्रकार असमानता के चलते कुछ लोग शोषित व वंचित रह जाते हैं।

क– विषय प्रवेश

पठन सामग्री क्र.– 1

यह पठन सामग्री राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद, दिसम्बर 2007 द्वारा प्रकाशित पाठ्य पुस्तक 'सामाजिक विज्ञान, सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन – 1, कक्षा 6 के अध्याय 1 पृष्ठ क्र. 3–14 से ली गई है।

इस अध्याय को टोलियों में/समूहों में बँटकर पढ़ें और इसकी मुख्य बातों पर चर्चा करें।

आपकी अपनी कक्षा के छात्र–छात्राओं में किस किस प्रकार की विभिन्नताएँ हैं, पहचानने का प्रयास करें। इन विभिन्नताओं को शिक्षण में कैसे एक संसाधन के रुप में उपयोग कर सकते हैं, इस पर चर्चा करें।

पूरी चर्चा की एक विस्तृत रपट तैयार करें।

विविधता की समझ

अपनी कक्षा में चारों तरफ नज़र दौड़ाइए। क्या कोई ऐसी साथी है जो बिलकुल आपकी तरह दिखती हो? इस पाठ में आप पढ़ेंगे कि लोग एक दूसरों से कई मामलों में भिन्न होते हैं। वे न केवल अलग दिखते हैं, बल्कि वे अलग–अलग क्षेत्रों से भी आते हैं।

उनके धर्म, रहन–सहन, खान–पान, भाषा, त्यौहार आदि भी भिन्न होते हैं। ये भिन्नताएँ हमारे जीवन को कई तरह से रोचक बनाती हैं।

इन भिन्नताओं के कारण ही भारत में विविधता है। विविधता या अनेकता हमारे जीवन को किस तरह बेहतर बनाती है? भारत इतनी विविधताओं वाला देश कैसे बना? क्या सभी तरह की भिन्नताएँ विविधता का ही भाग होती हैं? चलिए, कुछ उत्तर पाने के लिए हम इस पाठ को पढ़ते हैं।

तीन बच्चों ने ऊपर दिए चित्र बनाए हैं।

खाली बक्से में आप अपना चित्र बनाइए। क्या आपका चित्र अन्य तीन चित्रों जैसा ही है? हो सकता है कि आपका चित्र इन तीनों से बहुत भिन्न हो जैसे कि ये तीनों चित्र भी आपस में एक–दूसरे से नहीं मिलते हैं। ऐसा इसीलिए कि हम सबका चित्रकारी करने का अपना–अपना एक तरीका होता है। जिस तरह हमारी चित्रकारी में भिन्नता है, उसी तरह हमारे रूप–रंग, खान–पान आदि में भी भिन्नता है।

अपने बारे में निम्नलिखित जानकारी दीजिए:–

1. बाहर जाते समय मैं..पहनना पसन्द करती हूँ।
2. मैं घर में..भाषा में बात करती हूँ।
3. मेरा पसन्दीदा खेल...है।
4. मुझे..के बारे में किताबें पढ़ना पसन्द है।

अपनी अध्यापिका की सहायता से यह पता कीजिए कि आप में से कितने साथियों के जवाब एक जैसे हैं। क्या कक्षा में कोई ऐसा साथी भी है जिसकी सूची आपकी सूची से हू–ब–हू मिलती है? शायद नहीं हो। हालाँकि ऐसा होगा कि कई साथियों के कुछ जवाब आपके जवाबों से मिलते–जुलते होंगे। कितने साथियों को आपके जैसी किताब पढ़ना पसन्द है? आपकी कक्षा के विद्यार्थी कुल मिलाकर कितनी भाषाएँ बोलते हैं? इनसे अब तक आपको यह अन्दाज़ा हो गया होगा कि कई मामलों में आप उनसे बिलकुल अलग हैं।

दोस्ती करना

क्या ऐसे इन्सान से दोस्ती करना आपके लिए आसान होगा जो आपसे बहुत भिन्न है? नीचे दी गई कहानी पढ़ें और इस बारे में सोचें।

मैंने इसे एक मज़ाक की तरह लिया। मज़ाक जो कि फटे–पुराने कपड़े पहने उस छोटे–से लड़के के लिए था जो दिल्ली के जनपथ के भीड़–भाड़ वाले चौराहे की लालबत्ती पर अखबार बेचता था। मैं जब भी वहाँ से साइकिल से गुज़रता, वह अँग्रेज़ी का अखबार हाथ में लहराते हुए मेरे पीछे भागता और उस दिन की सुर्खियों को हिन्दी–अँग्रेज़ी के मिले–जुले शब्दों में चिल्लाकर सुनाता रहता। इस बार मैं पटरी के सहारे रुका और मैंने उससे हिन्दी का अखबार माँगा। उसका मुँह खुला का खुला रह गया। उसने पूछा, "मतलब, आपको हिन्दी आती है?"

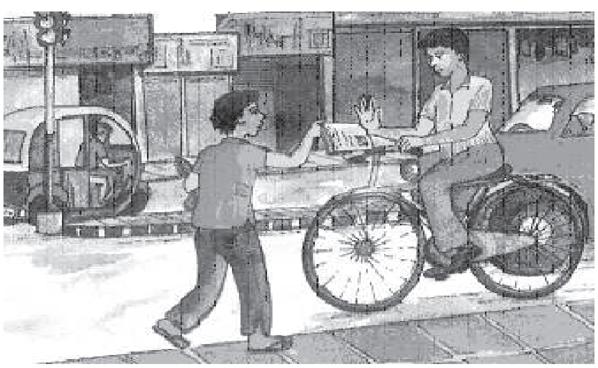

"बिलकुल", मैंने अखबार के पैसे देते हुए कहा। "क्यों? तुमने क्या सोचा?" वह रुका– "पर आप लगते तो.....बड़े अँग्रेज़ हैं," वह बोला।

"मतलब कि आप हिन्दी पढ़ भी सकते हैं?"

"हाँ, बिलकुल पढ़ सकता हूँ।" इस बार मैं थोड़ा अधीर होते हुए बोला। "मैं हिन्दी बोल सकता हूँ, पढ़ सकता हूँ और लिख भी सकता हूँ। मैंने स्कूल में दूसरे ''सब्जेक्ट' (विषय) के साथ हिन्दी पढ़ी है।''

"सब्जेक्ट" उसने पूछा। अब जो कभी स्कूल नहीं गया उसको मैं क्या समझाता कि सब्जेक्ट क्या होता है? "वह कुछ होता है...." मैंने शुरू किया ही था कि बत्ती हरी हो गई और मेरे पीछे गाड़ियों के हॉर्न का शोर सौ गुना बढ़ गया। मैंने भी अपने आप को ट्रैफिक के साथ आगे बढ़ने दिया।

अगले दिन वह फिर से वहाँ पर था। वह मुस्करा रहा था और मेरी तरफ हिन्दी का अखबार बढ़ाते हुए उसने कहा, "भैया, आपका अखबार। अब बताइए ये सब्जेक्ट क्या चीज़ है?" अँग्रेज़ी का यह शब्द उसकी जबान पर अजीब लग रहा था। ऐसा लगा मानो अँग्रेज़ी में 'सब्जेक्ट' शब्द का जो दूसरा अर्थ है 'प्रजा', उस अर्थ में वह उसका प्रयोग कर रहा है।

"ओह, यह कुछ पढ़ाई–लिखाई से सम्बन्धित है, "मैंने कहा। उसके बाद चूँकि बत्ती लाल हो गई थी सो मैंने पूछा, "तुम कभी स्कूल गए हो?" "कभी नहीं," उसने जवाब दिया। फिर बात बढ़ाते हुए उसने गर्व से कहा, "मैं जब इतना ऊँचा था तभी से मैंने काम करना शुरू कर दिया था।" उसने मेरी साइकिल की गद्दी के बराबर अपने आप को नापा। "पहले मेरी माँ मेरे साथ आती थी, लेकिन अब मैं अकेले ही कर लेता हूँ।"

"अभी तुम्हारी माँ कहाँ है?" मैंने पूछा। पर तब तक बत्ती हरी हो गई और मैं चल पड़ा। मैंने उसे अपने पीछे कहीं से चिल्लाते हुए सुना, "वह मेरठ में है और उसके साथ....''.बाकी ट्रैफिक के शोरगुल में डूब गया। "मेरा नाम समीर है," उसने अगले दिन कहा और बड़े शर्माते हुए मेरा नाम पूछा, "आपका नाम?" यह तो बड़े आश्चर्य की बात थी। मेरी साइकिल डगमगाई। "मेरा नाम भी समीर है", मैंने बताया। "क्या", उसकी आँखें एकदम से चमक उठीं। "हाँ", मैंने मुस्कराते हुए कहा। "तुम्हें पता है समीर का अर्थ है – हवा, पवन। और पवनपुत्र कौन हैं जानते हो न ?....हनुमान।"

"तो अब तो आप समीर एक और मैं समीर दो," उसने खूब खुश होते हुए कहा। "हाँ ठीक है" मैंने जवाब दिया और अपना हाथ आगे बढ़ाया। "हाथ मिलाओ समीर दो।"

उसका छोटा–सा हाथ मेरे हाथ में एक नन्हीं चिड़िया की तरह समा गया। मैं साइकिल चलाकर आगे बढ़ चुका था, पर उसके हाथ की गर्माहट अब तक महसूस कर रहा था।

अगले दिन उसके चेहरे पर उसकी चिरपरिचित मुस्कान नहीं थी।

"मेरठ में बड़ी गड़बड़ हो गई है," उसने कहा। "वहाँ दंगों में बहुत लोग मारे गए हैं।"

"मैंने मुख्य अखबार की सुर्खियों की तरफ देखा। बड़े–बड़े अक्षरों में लिखा था – साम्प्रदायिक दंगे। "लेकिन समीर"...मैंने शुरू किया ही था, "मैं मुस्लिम समीर हूँ" वह बोल पड़ा। "और मेरे सभी लोग मेरठ में हैं। उसकी आँखें भर आईं। जब मैंने उसके कन्धे पर हाथ रखा, उसने नज़र ऊपर नहीं उठाई।

अगले दिन वह चौराहे पर नहीं था न उसके अगले दिन वह दिखा और न आगे फिर कभी। अँग्रेज़ी या हिन्दी का कोई अखबार मुझे नहीं बता सकता कि मेरा समीर दो आखिर कहाँ गया।
(पोइली सेनगुप्ता की कहानी द लाइट्स चेंजड पर आधारित)

---

1. **समीर एक और समीर दो में कोई तीन अन्तर लिखिए।**
2. **क्या ये अन्तर उन्हें दोस्त बनने से रोक पाए?**

जहाँ समीर एक को अँग्रेज़ी ज़्यादा अच्छी आती है, वहीं समीर दो हिन्दी बोलता है। हालाँकि दोनों की भाषाएँ अलग हैं, फिर भी दोनों एक–दूसरे से बात कर पाए। उन्होंने उसके लिए प्रयास किया क्योंकि उनके लिए बात करना महत्वपूर्ण था। समीर एक और समीर दो की धार्मिक व सांस्कृतिक पृष्ठभूमियाँ अलग हैं। जहाँ समीर एक हिन्दू है, वहीं समीर दो मुसलमान है। दोस्ती हुई क्योंकि दोनों दोस्ती करना चाहते थे। खान–पान, पहनावा, धर्म, भाषा की ये भिन्नताएँ विविधता के पहलू हैं।

अपनी विविध धार्मिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमियों के अलावा समीर एक और समीर दो कई अन्य मामलों में भी एक–दूसरे से अलग थे। उदाहरण के लिए समीर एक ने स्कूल में पढ़ाई की थी जबकि समीर दो अखबार बेचता था।

उन त्यौहारों की सूची बनाइए जो हो सकता है कि समीर एक और समीर दो मनाते हों।
समीर एक :..
समीर दो :..
क्या आप ऐसी किसी परिस्थिति के बारे में सोच सकते हैं जब आपने उससे दोस्ती की जो आप से बहुत अलग हो? इसका वर्णन एक कहानी के रूप में कीजिए।

समीर दो को स्कूल जाने का मौका मिला ही नहीं। आपने सम्भवतः अपने इलाके में ऐसे कई लोगों को देखा होगा जो गरीब हैं और जिनकी भोजन, घर और कपड़े की ज़रूरतें भी पूरी नहीं हो पातीं। यह फर्क उस फर्क से अलग है जिसके बारे में हमने पहले पढ़ा। यह विविधता का रूप नहीं है, बल्कि **गैर–बराबरी का रूप है।** गैर–बराबरी का मतलब है कि कुछ लोगों के पास न अवसर हैं और न ही ज़मीन या पैसे जैसे संसाधन, जो दूसरों के पास हैं। यह लोगों के बीच मौजूद असमानता यानी गैर–बराबरी है।

जाति व्यवस्था असमानता का एक और उदाहरण है। इस व्यवस्था में समाज को अलग–अलग समूहों में बाँटा गया। इस बँटवारे का आधार था कि लोग किस–किस तरह का काम करते हैं। लोग जिस जाति में पैदा होते थे, उसे बदल नहीं सकते थे। उदाहरण के लिए अगर आप कुम्हार के घर में पैदा हो गए तो आपकी जाति कुम्हार ही होती है और आप बस वही बन सकते थे। कोई व्यक्ति जाति से जुड़ा अपना पेशा भी नहीं बदल सकता था, इसलिए उस ज्ञान के अलावा किसी अन्य को हासिल करना ज़रूरी नहीं समझा जाता था। इससे गैर–बराबरी पैदा हुई।

समीर दो स्कूल क्यों नहीं जाता था? आपकी राय में अगर वह स्कूल जाना चाहता तो क्या जा पाता? क्या यह सही है कि कुछ बच्चे स्कूल जा पाते हैं और कुछ जा ही नहीं पाते? इस पर चर्चा करें।

विविधता हमारे जीवन को कैसे समृद्ध करती है?

जैसे समीर एक और समीर दो दोस्त बने, ठीक वैसे ही आपकी भी सहेलियाँ होंगीं जो आपसे बहुत अलग होंगी। आपने शायद उनके घर में अलग तरह का खाना खाया होगा, उनके साथ अलग त्यौहार मनाए होंगे, उनके कपड़े पहन कर देखे होंगे और थोड़ी बहुत उनकी भाषा भी सीखी होगी।

सूची बनाइए कि आपने भारत के अलग–अलग प्रान्तों के कौन–कौन से व्यंजन खाए हैं। अपनी मातृभाषा के अलावा उन भाषाओं की सूची बनाइए जिनके आप कुछ शब्द भी जानती हैं।

आपको शायद तरह–तरह के जानवरों, रानियों, साहसिक घटनाओं या भाषा की कहानियाँ पसन्द होंगी। सम्भव है कि आपको खुद कहानी बनाना भी पसन्द होगा। एक अच्छी कहानी पढ़ने से हमेशा खुशी मिलती है। उसको पढ़कर और ज़्यादा कहानियाँ बनाने के लिए नए–नए विचार मिलते हैं। जो लोग कहानियाँ लिखते हैं वे विभिन्न स्रोतों–किताबों, वास्तविक जीवन और कल्पना से प्रेरणा लेते हैं।

कुछ लोग जंगल में जानवरों के नज़दीक रहे और उन्होंने जानवरों की दोस्ती व लड़ाइयों की अनेक कहानियाँ लिखीं। कुछ अन्य लोगों ने राजा–रानियों के वृत्रान्त पढ़ कर प्यार और सम्मान के किस्से लिखे। कुछ ने अपने बचपन की यादों में गोते लगाए, स्कूल और दोस्तों की मधुर यादों से निकलकर कुछ साहस की कहानियाँ लिखीं।

कल्पना कीजिए कि जिनकी कहानियाँ आपने सुनी या पढ़ी हैं, उन सभी कहानीकारों या कहानी सुनाने वालों को ऐसी जगह पर रहना पड़े, जहाँ लोग केवल दो ही रंग के कपड़े पहनते हों – लाल एवं सफेद, एक तरह का खाना खाते हों (शायद आलू!), समान रूप से केवल दो पशु–पक्षी को पालते हों, उदाहरण के लिए हिरण और कौआ, और केवल साँप–सीढ़ी खेल से अपना मनोरंजन करते हों। ऐसी–जगह रहकर वे कैसी कहानियाँ लिख पाएँगे?

मान लीजिए कि आप एक चित्रकार या कहानीकार हैं जो इस जगह पर रहतीं है। ऐसी जगह के जीवन पर एक कहानी लिखिए या चित्र बनाईये।
क्या आप सोचती हैं कि आपको ऐसी जगह में रहने में मजा आएगा ? उन पाँच चीजों की सूची बनाइये जिनकी कमी ऐसी जगह में सबसे ज्यादा खलेगी।

भारत में विविधता

भारत विविधताओं का देश है। हम विभिन्न भाषाएँ बोलते हैं। विभिन्न प्रकार का खाना खाते हैं, अलग–अलग त्यौहार मनाते हैं और भिन्न–भिन्न धर्मों का पालन करते हैं। लेकिन गहराई से सोचें तो वास्तव में हम एक ही तरह की चीज़े करते हैं केवल हमारे करने के तरीके अलग हैं।

भारत के लोग विविध तरीकों से नीचे लिखे काम करते हैं। यहाँ उनमें से एक तरीका बताया गया है। दो और तरीके लिखिए			
प्रार्थना/इबादत करना	ईसा मसीह के भजन गाना		
शादी करना		अदालत के रजिस्टर में दस्तखत करना	
विभिन्न प्रकार के कपड़े पहनना			मणिपुर में औरतों का फनैक पहनना
अभिवादन करना		झारखण्ड के आदिवासियों का एक–दूसरे को 'जोहार' कहना	
चावल पकाना	मीट या सब्जी डालकर बिरयानी पकाना		

हम विविधता को कैसे समझें?

करीब दो–सवा दो सौ वर्ष पहले जब रेल, हवाई जहाज, बस और कार हमारे जीवन का हिस्सा नहीं थे, तब भी लोग संसार के एक भाग से दूसरे भाग की यात्रा करते थे। वे पानी के जहाज में, घोड़ों या ऊँट पर बैठकर या फिर पैदल चलकर जाते थे।

अक्सर ये यात्राएँ खेती और बसने के लिए नई ज़मीन की तलाश में या फिर व्यापार के लिए की जाती थीं। चूँकि यात्रा में बहुत समय लगता था, इसलिए लोग नई जगह पर अक्सर काफी लम्बे समय तक ठहर जाते थे। इसके अलावा सूखे और अकाल के कारण भी कई बार लोग अपना घर–बार छोड़ देते थे। उन्हें जब पेट भर खाना तक नहीं मिलता था तो वे नई जगह जा कर बस जाते थे। कुछ लोग काम की तलाश में और कुछ युद्ध के कारण घर छोड़ देते थे।

लोग जब नई जगह में बसना शुरू करते थे तो उनके रहन–सहन में थोड़ा बदलाव आ जाता था। कुछ चीज़ें वे नई जगह की अपना लेते थे और कुछ चीज़ों में वे पुराने ढर्रे पर ही चलते रहते थे। इस तरह उनकी भाषा, भोजन, संगीत, धर्म आदि में नए और पुराने का मिश्रण होता रहता था। उनकी संस्कृति और नई जगह की संस्कृति में आदान–प्रदान होता ओर धीरे–धीरे एक मिश्रित यानी मिली–जुली संस्कृति उभरती।

अगर अलग–अलग क्षेत्रों का इतिहास देखें तो हमें पता चलेगा कि किस तरह विभिन्न सांस्कृतिक प्रभावों ने वहाँ के जीवन और संस्कृति को आकार देने में योगदान दिया है। इस तरह से कई क्षेत्र अपने विशिष्ट इतिहास के कारण विविधता सम्पन्न हो जाते थे।

ठीक इसी प्रकार लोग अलग–अलग तरह की भौगोलिक स्थितियों में किस प्रकार सामंजस्य बैठाते हैं, उससे भी विविधता उत्पन्न होती है। उदाहरण के लिए समुद्र के पास रहने में और पहाड़ी इलाकों में रहने में बड़ा फर्क है। न केवल वहाँ के लोगों के कपड़ों और खान–पान की आदतों में फर्क होगा, बल्कि जिस तरह का काम वे करेंगे, वे भी अलग होंगे। शहरों में अक्सर लोग यह भूल जाते हैं कि उनका जीवन उनके भौतिक वातावरण से किस तरह गहराई से जुड़ा हुआ है। ऐसा इसलिए कि शहरों में लोग विरले ही अपनी सब्जी या अनाज उगाते हैं। वे इन चीज़ों के लिए बाज़ार पर ही निर्भर रहते हैं।

आइए, भारत के दो भागों लद्दाख और केरल के उदाहरण के ज़रिए यह समझने की कोशिश करें कि किसी क्षेत्र की विविधता पर उसके ऐतिहासिक और भौगोलिक कारकों का क्या असर पड़ता है।

एटलस में भारत का नक्शा देखिए और उसमें ढूँढ़िए कि ये दोनों क्षेत्र – लद्दाख तथा केरल – कहाँ पर हैं। इन दोनों क्षेत्रों की भौगोलिक स्थितियाँ वहाँ के भोजन, कपड़े और व्यवसाय/पेशे को कैसे प्रभावित करती हैं? उनकी सूची बनाइए।

लद्दाख–ऊँचे पहाड़ों वाला रेगिस्तानी इलाका

लद्दाख जम्मू और कश्मीर के पूर्वी हिस्से में पहाड़ियों में बसा एक रेगिस्तानी इलाका है। यहाँ पर बहुत ही कम खेती सम्भव है, क्योंकि इस क्षेत्र में बारिश बिलकुल नहीं होती और यह इलाका हर वर्ष काफी लम्बे समय तक बर्फ से ढंका रहता है। इस क्षेत्र में बहुत ही कम पेड़ उग पाते हैं। पीने के पानी के लिए लोग गर्मी के महीनों में पिघलने वाली बर्फ पर निर्भर रहते हैं।

यहाँ के लोग एक खास किस्म की भेड़ पालते हैं जिससे पश्मीना ऊन मिलता है। यह ऊन कीमती है, इसीलिए पश्मीना शाल बड़ी महँगी होती है। लद्दाख के लोग बड़ी सावधानी से इस ऊन को इकट्ठा करके कश्मीर के व्यापारियों को बेच देते हैं। मुख्यतः कश्मीर में ही पश्मीना शालें बुनी जाती हैं।

पश्मीना शाल बुनती हुई औरतें

यहाँ के लोग दूध से बने पदार्थ, जैसे मक्खन, चीज़ (खास तरह का छेना) एवं मांस, खाते हैं। हर एक परिवार के पास कुछ गाय, बकरियाँ और याक होती हैं।

रेगिस्तान होने का यह मतलब नहीं कि व्यापारी यहाँ आने के लिए आकर्षित नहीं हुए। लद्दाख तो व्यापार के लिए एक अच्छा रास्ता माना गया क्योंकि यहाँ कई घाटियाँ हैं जिनसे गुज़र कर मध्य एशिया के काफ़िले उस इलाके में पहुँचते थे जिसे आज तिब्बत कहते हैं। ये काफिले अपने साथ मसाले, कच्चा रेशम, दरियाँ, आदि लेकर चलते थे।

लद्दाख के रास्ते ही बौद्ध धर्म तिब्बत पहुँचा। लद्दाख को छोटा तिब्बत भी कहते हैं। करीब चार सौ साल पहले यहाँ पर लोगों का इस्लाम धर्म से परिचय हुआ और अब यहाँ अच्छी–खासी संख्या में मुसलमान रहते हैं।

लद्दाख में गानों और कविताओं का बहुत ही समृद्ध मौखिक संग्रह है। तिब्बत का "ग्रन्थ केसर सागा" लद्दाख में काफी प्रचलित है। उसके स्थानीय रूप को मुसलमान और बौद्ध दोनों ही लोग गाते हैं और उस पर नाटक खेलते हैं।

केरल भारत के दक्षिणी–पश्चिमी कोने में बसा हुआ राज्य है। यह एक तरफ समुद्र से घिरा हुआ है और दूसरी तरफ पहाड़ियों से। इन पहाड़ियों पर विविध प्रकार के मसाले जैसे कालीमिर्च, लौंग, इलायची आदि उगाए जाते हैं। इन मसालों के कारण यह क्षेत्र व्यापारियों के लिए बहुत ही आकर्षक बना।

सबसे पहले अरबी एवं यहूदी व्यापारी केरल आए। ऐसा माना जाता है कि ईसा मसीह के धर्मदूत सन्त थॉमस लगभग दो हज़ार साल पहले यहाँ आए। भारत में ईसाई धर्म लाने का श्रेय उन्हीं को जाता है। अरब से कई व्यापारी यहाँ आकर बस गए। इब्न बतूता ने, जो करीब सात सौ साल पहले यहाँ आए, अपने यात्रा वृत्तान्त में मुसलमानों के जीवन का विवरण देते हुए लिखा है कि मुसलमान समुदाय की यहाँ बड़ी इज्जत थी।

वास्को डि गामा पानी के जहाज़ से यहाँ पहुँचे तो पुर्तगालियों ने यूरोप से भारत तक का समुद्री रास्ता जाना।

इन सभी ऐतिहासिक प्रभावों के कारण केरल के लोग विभिन्न धर्मों का पालन करते हैं जिनमें इस्लाम, ईसाई, हिन्दू एवं बौद्ध धर्म शामिल हैं।

चीन के व्यापारी भी केरल आए। यहाँ पर मछली पकड़ने के लिए जो जाल इस्तेमाल किए जाते हैं वे चीनी जालों से हू–ब–हू मिलते हैं और उन्हें ''चीना–वला'' कहते हैं।

मछली पकड़ने का चीनी जाल

इसमें 'चीन' शब्द इस बात की ओर इशारा करता है कि उसकी उत्पत्ति कहाँ हुई होगी। केरल की उपजाऊ ज़मीन और जलवायु चावल की खेती के लिए बहुत उपयुक्त है और वहाँ के लोग मछली, सब्ज़ी और चावल खाते हैं।

जहाँ केरल और लद्दाख की भौगोलिक स्थिति एक–दूसरे से बिलकुल अलग है, वहीं हम यह भी देखते हैं कि दोनों क्षेत्रों के इतिहास में एक ही प्रकार के सांस्कृतिक प्रभाव हैं। दोनों ही क्षेत्रों को चीन और अरब से आने वाले व्यापारियों ने प्रभावित किया। जहाँ केरल की भौगोलिक स्थिति ने मसालों की खेती सम्भव बनाई, वहीं लद्दाख की विशेष भौगोलिक स्थिति और ऊन ने व्यापारियों को अपनी ओर खींचा। इस तरह पता चलता है कि किसी भी क्षेत्र के सांस्कृतिक जीवन का उसके इतिहास और भूगोल से प्रायः गहरा रिश्ता होता है।

विविध संस्कृतियों का प्रभाव केवल बीते हुए कल की बात नहीं है। हमारे वर्तमान जीवन का आधार ही काम के लिए एक जगह से दूसरी जगह जाना है। हर एक कदम के साथ हमारे सांस्कृतिक रीति–रिवाज़ और जीने का तरीका धीरे–धीरे उस नए क्षेत्र का हिस्सा बन जाते हैं जहाँ हम पहुँचते हैं। ठीक इसी तरह अपने पड़ोस में हम अलग–अलग समुदायों के लोगों के साथ रहते हैं। अपने रोज़मर्रा के जीवन में हम मिल–जुलकर काम करते हैं और एक–दूसरे के रीति–रिवाज़ और परम्पराओं में घुलमिल जाते हैं।

विविधता में एकता

भारत की विविधता या अनेकता को उसकी ताकत का स्रोत माना गया है। जब अँग्रेज़ों का भारत पर राज था तो विभिन्न धर्म, भाषा और क्षेत्र की महिलाओं और पुरुषों ने अँग्रेज़ों के खिलाफ मिलकर लड़ाई लड़ी थी। भारत के स्वतंत्रता संग्राम में अलग–अलग परिवेशों के लोग शामिल थे। उन्होंने एकजुट होकर आन्दोलन किया, इकट्ठे जेल गए। अँग्रेज़ों ने सोचा था कि वे भारत के लोगों में फूट डाल सकते हैं क्योंकि उनमें काफी विविधताएँ

हैं और इस तरह उनका राज चलता रहेगा। मगर लोगों ने दिखला दिया कि वे एक–दूसरे से चाहे कितने ही भिन्न हों, अँग्रेज़ों के खिलाफ लड़ी जाने वाली लड़ाई में वे सब एक थे।

दिन ख़ून के हमारे, प्यारे न भूल जाना
खुशियों में अपनी हम पर, आँसू बहा के जाना

सैयाद ने हमारे, चुन–चुन के फूल तोड़े
वीरान इस चमन में, कोई गुल खिला के जाना
दिन ख़ून के हमारे...

गोली खा के सोये, जलियां बाग में हम
सूनी पड़ी कब्र पर, दिया जला के जाना
दिन ख़ून के हमारे...

हिन्दू मुस्लिमों की, होती है आज होली
बहते हैं एक रंग में, दामन भिगो के जाना
दिन ख़ून के हमारे...

कुछ जेल में पड़े हैं, कुछ कब्र में गड़े हैं
दो बूँद आँसू उन पर, प्यारे बहा के जाना
दिन ख़ून के हमारे...

– भारतीय जन नाट्य संघ (इप्टा)

यह गीत जलियाँवाला बाग हत्याकाण्ड के बाद अमृतसर में गाया गया था। इस हत्याकाण्ड में एक ब्रिटिश जनरल ने उन शान्तिप्रिय, निहत्थे लोगों पर खुले आम गोलियाँ चलवा दी थीं जो बाग में इकट्ठे होकर सभा कर रहे थे। महिला–पुरुष, हिन्दू–मुसलमान एवं सिख कितने सारे लोग थे, जो अँग्रेज़ों की पक्षपातपूर्ण नीति का विरोध करने के लिए जमा हुए थे। उनमें से बहुत लोगों की जानें गईं और उससे भी ज़्यादा घायल हुए। यह गीत उन्हीं शहीदों की याद में गाया गया था।

स्वतंत्रता संग्राम के दौरान उभरे गीत और चिह्न विविधता के प्रति हमारा विश्वास बनाए रखते हैं। क्या आप भारतीय झण्डे की कहानी जानते हैं? स्वतंत्रता संग्राम के दौरान ही भारत के झण्डे की परिकल्पना की गई थी। इस झण्डे को सारे भारत में लोगों ने अँग्रेज़ों के खिलाफ इस्तेमाल किया था।

जवाहरलाल नेहरू ने अपनी किताब भारत की खोज में लिखा कि भारतीय एकता कोई बाहर से थोपी हुई चीज़ नहीं है, बल्कि "यह बहुत ही गहरी है जिसके अन्दर अलग–अलग तरह के विश्वास और प्रथाओं को स्वीकार करने की भावना है। इसमें विविधता को पहचाना और प्रोत्साहित किया जाता है।" यह नेहरू ही थे जिन्होंने भारत की विविधता का वर्णन करते हुए "अनेकता में एकता" का विचार हमें दिया।

रविन्द्रनाथ टैगोर द्वारा रचित हमारा राष्ट्रगान भी भारतीय एकता की ही एक अभिव्यक्ति है। राष्ट्रगान किस तरह से एकता का वर्णन करता है, इसे अपने शब्दों में लिखिए।

अभ्यासः–

1. अपने इलाके में मनाए जाने वाले विभिन्न त्यौहारों की सूची बनाइए। इनमें से कौन–से त्यौहार सभी समुदायों द्वारा मनाए जाते हैं?

2. आपके विचार में भारत की समृद्ध एवं विविध विरासत आपके जीवन को कैसे बेहतर बनाती है?

3. आपके अनुसार "अनेकता में एकता" का विचार भारत के लिए कैसे उपयुक्त है? "भारत की खोज" किताब से लिए गए इस वाक्यांश में नेहरू भारत की एकता के बारे में क्या कहना चाह रहें है?

4. जलियाँवाला बाग हत्याकाण्ड के ऊपर लिखे गए गाने की उस पंक्ति को चुनिए जो आपके अनुसार भारत की एकता को निश्चित रूप से झलकाती है।

5. लद्दाख एवं केरल की तरह भारत का कोई एक क्षेत्र चुनिए और अध्ययन कीजिए कि कैसे उस क्षेत्र की विविधता के ऐतिहासिक एवं भौगोलिक कारक आपस में जुड़े हुए हैं?

|||||||||

पठन सामग्री क्र.– 2

पिछली पाठ्यसामग्री में हमने देखा कि लोग अलग–अलग रुचि, क्षमता विचार आदि के होते हैं। ऐसी विभिन्नता के कारण कुछ लोगों को अलग–थलग किया जाता है, सामान्य सुविधा व अवसरों से वंचित रखा जाता है। यानी कि भेदभाव किया जाता है, या उनसे असमान व्यवहार किया जाता है। इस पठन सामग्री में इसी विषय पर शुरुआती चर्चा है। इसे भी हमने राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद, द्वारा दिसम्बर 2007 प्रकाशित कक्षा 6 की पाठ्यपुस्तक सामाजिक विज्ञान, सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन – 1, अध्याय 2 पृष्ठ क्र. 15 – 28 से लिया है।

इस पठन सामग्री को पढ़ने के साथ इन विषयों पर कक्षा में चर्चा करेंः–

1. निरक्षर लोगों के बारे में क्या रूढ़िबद्ध विचार हैं? वे किस हद तक सही हैं?
2. आदिवासियों के बारे में क्या रूढ़िबद्ध विचार हैं? वे किस हद तक सही हैं?
3. नेताओं के बारे में क्या रुढ़िबद्ध विचार हैं? वे किस हद तक सही हैं?
4. सरकारी बाबुओं के बारे में क्या रूढ़िबद्ध विचार हैं? वे किस हद तक सही हैं?
5. पुलिस थानेदार के बारे में क्या रूढ़िबद्ध विचार हैं? वे किस हद तक सही हैं?
6. जो लोग देख नहीं सकते उनके बारे में क्या रूढ़िबद्ध विचार हैं? वे किस हद तक सही हैं?
7. परीक्षा में जिनके कम नम्बर आते हैं उनके बारे में क्या रूढ़िबद्ध विचार हैं? वे किस हद तक सही हैं?
8. वृद्ध औरतों के बारे में क्या रूढ़िबद्ध विचार हैं? वे किस हद तक सही हैं?
9. ——————————————————————————

विविधता एवं भेदभाव

अभी तक आपने विविधता के बारे में पढ़ा। कई बार जो लोग दूसरों से अलग होते हैं उन्हें चिढ़ाया जाता है, उनका मज़ाक उड़ाया जाता है या फिर उन्हें कई गतिविधियों या समूहों में शामिल नहीं किया जाता। अगर हमारे दोस्त या दूसरे लोग हमारे साथ ऐसा व्यवहार करें तो हमें दुख होता है, गुस्सा आता है और असहाय महसूस करते हैं। क्या आपने कभी सोचा है कि ऐसा क्यों होता है?
इस पाठ में हम यह समझने की कोशिश करेंगे कि ऐसे अनुभव हमारे समाज और हमारे आस–पास मौजूद असमानताओं से कैसे जुड़े हुए हैं।

हम क्या हैं और हम कैसे हैं, यह कई चीज़ों पर निर्भर करता है। हम कैसे रहते हैं, कौन–सी भाषाएं बोलते हैं, क्या खाते हैं, क्या पहनते हैं, कौन–से खेल खेलते हैं, कौन–से उत्सव मनाते हैं– इन सब पर हमारे रहने

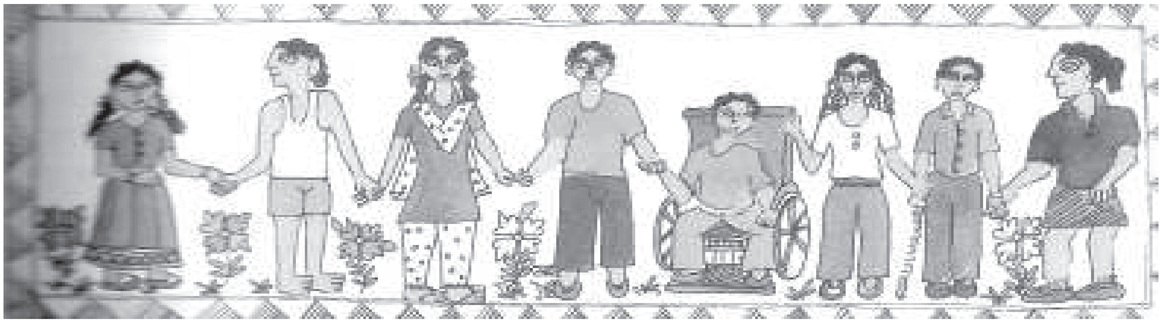

की जगह के भूगोल और उसके इतिहास का असर पड़ता है।

अगर आप संक्षेप में ही निम्नलिखित बिन्दुओं पर ध्यान दें तो भी यह अन्दाज़ा लग जाएगा कि भारत कितनी विविधताओं वाला देश है।

संसार में आठ मुख्य धर्म हैं। भारत में उन आठों धर्मों के अनुयायी यानी मानने वाले रहते हैं। यहाँ सोलह सौ से ज़्यादा भाषाएँ बोली जाती हैं जो लोगों की मातृभाषाएँ हैं। यहाँ सौ से भी ज्यादा तरह के नृत्य किए जाते हैं।

यह विविधता हमेशा खुश होने का कारण नहीं बनती। हम उन लोगों के साथ सुरक्षित एवं आश्वस्त महसूस करते हैं जो हमारी तरह दिखते हैं, बात करते हैं, कपड़े पहनते हैं और हमारी तरह सोचते हैं। कभी–कभी जब हम ऐसे लोगों से मिलते हैं जो हमसे बहुत भिन्न होते हैं, तो हमें वे बहुत अजीब और अपरिचित लग सकते हैं। कई बार हम समझ ही नहीं पाते या जान ही नहीं पाते कि वे हमसे अलग क्यों हैं। लोग अपने से अलग दिखने वालों के बारे में खास तरह की राय बना लेते हैं।

पूर्वाग्रह

शहरी एवं ग्रामीण इलाकों में रहने वाले लोगों के बारे में नीचे कुछ कथन दिए गए हैं। जिन कथनों से आप सहमत हैं, उन पर सही का निशान लगाइए :

ग्रामीण लोग

1. **आधे से ज़्यादा भारतीय गाँवों में रहते हैं।**
2. **ग्रामीण लोग अपने स्वास्थ्य को लेकर सतर्क नहीं होते। वे बहुत अन्धविश्वासी होते हैं।**
3. **गाँव के लोग बहुत पिछड़े हुए होते हैं और वे कृषि की आधुनिक प्रौद्योगिकी का इस्तेमाल करना पसन्द नहीं करते हैं।**
4. **फसल की बुवाई और कटाई के समय परिवार के लोग खेतों में 12 से 14 घण्टों तक काम करते हैं।**
5. **ग्रामीण लोग काम की तलाश में शहरों की ओर स्थानान्तरण करने को बाध्य होते हैं।**

शहरी लोग

6. **शहरी जीवन बड़ा आसान होता है। यहाँ के लोग बिगड़े हुए और आलसी होते हैं।**
7. **शहरों में लोग अपने परिवार के सदस्यों के साथ बहुत कम समय बिताते हैं।**
8. **शहरी लोग केवल पैसे की चिन्ता करते हैं, लोगों की नहीं।**
9. **शहरी लोगों पर भरोसा नहीं किया जा सकता, वे चालाक और भ्रष्ट होते हैं।**
10. **शहरों में रहना बहुत महँगा पड़ता हैं। लोगों की कमाई का एक बहुत बड़ा हिस्सा किराए और आने–जाने में खर्च हो जाता है।**

ऊपर लिखे कुछ कथन ग्रामीण लोगों को गन्दे, अन्धविश्वासी एवं अज्ञानी की तरह देखते हैं, जबकि शहर में रहने वाले लोगों को आलसी, चालाक एवं सिर्फ पैसे से सरोकार रखने वालों की तरह देखते हैं। जब हम किसी के बारे में पहले से कोई राय बना लेते हैं और उसे हम अपने दिमाग में बिठा लेते हैं तो वह पूर्वाग्रह का रूप

ले लेती हैं। ज़्यादातर यह राय नकारात्मक होती है। जैसा कि ऊपर के कथनों में दिया गया है – लोगों को आलसी, चालाक या कंजूस मानना भी पूर्वाग्रह है।

जब हम यह सोचने लगते हैं कि किसी काम को करने का कोई एक तरीका ही सबसे अच्छा और सही है, तो हम अक्सर दूसरों की इज्ज़त नहीं कर पाते जो उसी काम को दूसरी तरह से करना पसन्द करते हैं। उदाहरण के लिए अगर हम सोचें कि अँग्रेज़ी सबसे अच्छी भाषा है और दूसरी भाषाएँ महत्वपूर्ण नहीं हैं, तो हम अन्य भाषाओं को बहुत नकारात्मक रूप से देखेंगे। परिणामस्वरूप हम उन लोगों की शायद इज्ज़त नहीं कर पाएँगे जो अँग्रेज़ी के अलावा अन्य भाषाएँ बोलते हैं।

हम कई चीज़ों के बारे में पूर्वाग्रही हो सकते हैं – लोगों के धार्मिक विश्वास, उनकी चमड़ी का रंग, जिस क्षेत्र से वे आते हैं, जिस तरह से वे बोलते हैं, जैसे कपड़े वे पहनते हैं इत्यादि।

उन कथनों को फिर से देखिए, जो आपको ग्रामीण एवं शहरी लोगों के बारे में सही लगे। क्या आपके दिमाग में ग्रामीण या शहरी लोगों को लेकर किसी भी प्रकार के पूर्वाग्रह हैं? क्या दूसरे लोगों के दिमाग में भी ये पूर्वाग्रह हैं? लोगों के दिमाग में ये पूर्वाग्रह क्यों होते हैं? जिन पूर्वाग्रहों को आपने अपने आस–पास महसूस किया है उनकी एक सूची बनाइए। ये पूर्वाग्रह लोगों के व्यवहार को कैसे प्रभावित करते हैं?

अक्सर दूसरों के बारे में बनाए गए हमारे पूर्वाग्रह इतने पक्के होते हैं कि हम उनसे दोस्ती नहीं करना चाहते। इस वजह से कई बार हमारा व्यवहार ऐसा होता है कि हम उन्हें दुःख पहुँचा देते हैं।

लड़के और लड़की में भेदभाव

समाज में लड़के और लड़कियों में कई तरह से भेदभाव किया जाता है। हम सभी इस भेदभाव से परिचित हैं। एक लड़का या लड़की होने का अर्थ क्या होता है? आपमें से कई लोग कहेंगे ''हम लड़के या लड़की की तरह जन्म लेते हैं। यह तो ऐसे ही होता है। इसमें सोचने वाली क्या बात है?'' आइए, देखें कि क्या सच्चाई यही है?

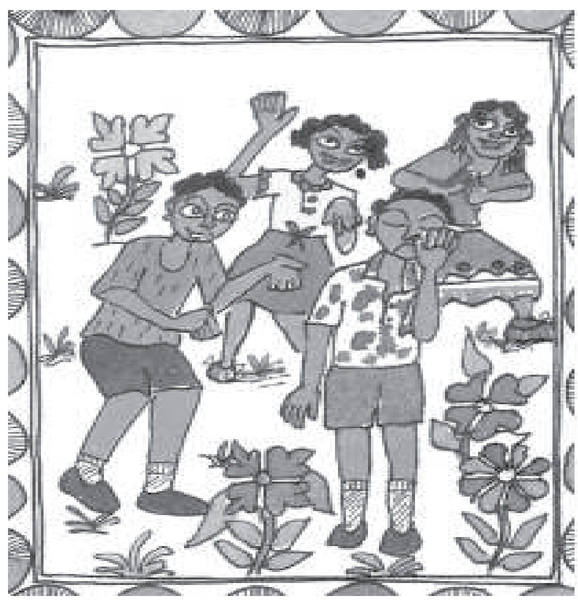

नीचे दिए गए कथनों की सूची में से तालिका को भरिए। अपने उत्तर के कारणों पर चर्चा कीजिए।

वे बहुत ही सुशील हैं। वे रोते नहीं।
उनका बात करने का तरीका बड़ा सौम्य और मधुर है। वे ऊधमी हैं। वे खेल में निपुण हैं।
वे शारीरिक रूप से बलिष्ठ हैं। वे शरारती हैं। वे भावुक हैं।
वे नृत्य करने और चित्रकारी में निपुण हैं। वे खाना पकाने में निपुण हैं।

लड़का	लड़की
1	1
2	2
3	3
4	4
5	5

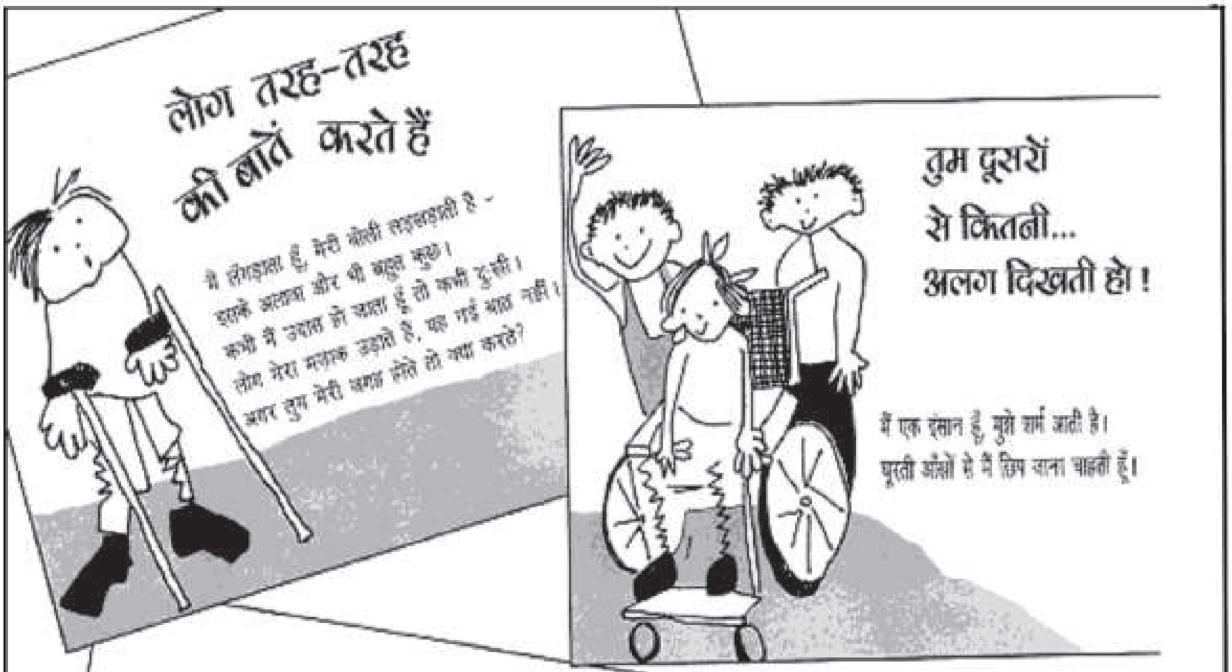

ऊपर के चित्रों में जो बच्चे हैं उन्हें पहले 'विकलांग' कहा जाता था। इस शब्द को बदलकर आज उनके लिए जो शब्द प्रयोग किए जाते हैं वे हैं – 'ख़ास ज़रूरतों वाले बच्चे'। उनके बारे में लोगों के पूर्वाग्रहों को यहाँ बड़े अक्षरों में दिया गया है। साथ में उनकी अपनी भावनाएँ और विचार भी दिए गए हैं।

ये बच्चे अपने से जुड़ी रूढ़िबद्ध धारणाओं के बारे में क्या कह रहे हैं और क्यों – इस पर चर्चा कीजिए।

आपकी राय में क्या ख़ास ज़रूरतों वाले बच्चों को सामान्य स्कूल में पढ़ना चाहिए या उनके लिए अलग स्कूल होने चाहिए? अपने जवाब के पक्ष में तर्क दीजिए।

स्रोत–व्हाईआर यू अफेड टू होल्ड माई हैंड, शीला धीर।

अगर हम इस कथन को लें कि 'वे रोते नहीं' तो आप देखेंगे कि यह गुण आम तौर पर लड़कों या पुरुषों के साथ जोड़ा जाता है। बचपन में जब लड़कों को गिर जाने पर चोट लग जाती है तो माता–पिता एवं परिवार के अन्य सदस्य अक्सर यह कहकर चुप कराते हैं कि 'रोओ मत। तुम तो लड़के हो। लड़के बहादुर होते हैं, रोते नहीं हैं'। जैसे–जैसे बच्चे बड़े होते जाते हैं, वे यह विश्वास करने लगते हैं कि लड़के रोते नहीं हैं।

यहाँ तक कि अगर किसी लड़के को रोना आए भी तो वह अपने आप को रोक लेता है। लड़का यह मानता

है कि रोना कमज़ोरी की निशानी है। हालाँकि लड़कों और लड़कियों दोनों का कभी–कभी रोने का मन करता है, खासकर जब उन्हें गुस्सा आए या दर्द हो। लेकिन बड़े होने तक लड़के सीख जाते हैं या अपने को सिखा लेते हैं कि रोना नहीं है। अगर एक बड़ा लड़का रोए तो उसे लगता है कि दूसरे उसे चिढाएँगें या उसका मज़ाक बनाएँगे। इसलिए वह दूसरों के सामने रोने से अपने आप को रोक लेता है।

'वे कोमल एवं मृदु स्वभाव की हैं'
'वे बहुत ही सुशील हैं ऐसे कथनों को लेकर उन पर चर्चा कीजिए कि ये कैसे केवल लड़कियों पर लागू किए जाते हैं। क्या लड़कियों में ये गुण जन्म से ही होते हैं या वे ऐसा व्यवहार समाज से सीखतीं हैं? आपकी उन लड़कियों के बारे में क्या राय है जो कोमल एवं मृदु स्वभाव की नहीं होतीं और शरारती होती हैं?

हम लगातार यह सुनते रहते हैं कि "लड़के ऐसे होते हैं" और "लड़कियाँ ऐसी होती हैं।" समाज की इन मान्यताओं को हम बिना सोचे–समझे मान लेते हैं। हम विश्वास कर लेते हैं कि हमारा व्यवहार इनके अनुसार ही होना चाहिए। हम सभी लड़कों और लड़कियों को उसी छवि के अनुरूप देखना चाहते हैं।

रूढ़िबद्ध धारणाएँ बनाना

जब हम सभी लोगों को एक ही छवि में बाँध देते हैं या उनके बारे में पक्की धारण बना लेते हैं, तो उसे रूढ़िबद्ध धारणा (Stereotype) कहते हैं। कई बार हम किसी खास देश, धर्म, लिंग के होने के कारण किसी को 'कंजूस' 'अपराधी' या 'बेवकूफ' ठहराते हैं। ऐसा दरअसल उनके बारे में मन में एक पक्की धारण बना लेने के कारण होता है। हर देश, धर्म आदि में हमें कंजूस, अपराधी, बेवकूफ लोग मिल ही जाते हैं। सिर्फ इसीलिए कि कुछ लोग उस समूह में वैसे हैं, पूरे समूह के बारे में ऐसी राय बनाना वाज़िब नहीं हैं। इस प्रकार की धारणाएँ हमें प्रत्येक इन्सान को एक अनोखे और अलग व्यक्ति की तरह देखने से रोक देती हैं। हम नहीं देख पाते कि उस व्यक्ति के अपने कुछ खास गुण और क्षमताएँ हैं जो दूसरों से अलग हैं।

रूढ़िबद्ध धारणाएँ बड़ी संख्या में लोगों को एक ही प्रकार के खाँचे में जड़ देती हैं। जैसे माना जाता था कि हवाई जहाज उड़ाने का काम लड़कियाँ नहीं कर सकतीं। इन धारणाओं का असर हम सब पर पड़ता है। कई बार ये धारणाएँ हमें ऐसे काम करने से रोकती हैं जिनको करने की काबलियत शायद हममें हो।

मुसलमानों के बारे में यह आम रूढ़िबद्ध धारणा है कि वे लड़कियों को पढ़ाने में रुचि नहीं लेते, इसलिए उन्हें स्कूल नहीं भेजते। जबकि अध्ययन यह दिखा रहे हैं कि मुसलमानों की गरीबी इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण है। गरीबी की वजह से ही वे लड़कियों को स्कूल नहीं भेज पाते या स्कूल से जल्दी निकाल लेते हैं। जहाँ पर भी गरीबों तक शिक्षा पहुँचाने के प्रयास किए गए हैं, वहाँ मुस्लिम समुदाय के लोगों ने अपनी लड़कियों को स्कूल भेजने में रुचि दिखाई है। उदाहरण के तौर पर केरल में स्कूल प्रायः घर के पास हैं। सरकारी बस की सुविधा बहुत अच्छी है, जिससे ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षकों को स्कूल पहुँचने में मदद मिलती है। उनमें 60 प्रतिशत से ज्यादा महिला शिक्षक हैं। इन सभी कारकों ने बहुत सारे गरीब परिवार के बच्चों को स्कूल जाने में मदद की है जिनमें मुसलमान लड़कियाँ भी शामिल हैं।
दूसरे राज्यों में जहाँ ऐसे प्रयास नहीं किए गए, वहाँ गरीब परिवारों के बच्चों को स्कूल जाने में मुश्किल आती है चाहे वे मुसलमान हों, जनजाति के हों या अनुसूचित जनजाति के हों। जाहिर है कि मुसलमान लड़कियों की गैर–हाज़िरी का कारण धर्म नहीं गरीबी है।

असमानता एवं भेदभाव

भेदभाव तब होता है जब लोग पूर्वाग्रहों या रूढ़िबद्ध धारणाओं के आधार पर व्यवहार करते हैं। अगर आप लोगों को नीचा दिखाने के लिए कुछ करते हैं, अगर आप उन्हें कुछ गतिविधियों में भाग लेने से रोकते हैं, किसी

खास नौकरी को करने से रोकते हैं या किसी मोहल्ले में रहने नहीं देते, एक ही कुएँ या हैण्डपम्प से पानी नही लेने देते और दूसरों द्वारा इस्तेमाल किए जा रहे कप या गिलास में चाय नहीं पीने देते तो इसका मतलब है कि आप उनके साथ भेदभाव कर रहे हैं।

भेदभाव कई कारणों से हो सकता है। आप याद करें, पहले आप ने पढ़ा है कि समीर एक और समीर दो एक–दूसरे से बहुत भिन्न थे। उदाहरण के लिए उनका धर्म अलग था। यह विविधता का एक पहलू है। पर यह भेदभाव का कारण भी बन सकता है। ऐसा तब होता है जब लोग अपने से भिन्न प्रथाओं और रिवाज़ों को निम्न कोटि का मानते हैं।

दोनों समीरों में एक और अन्तर उनकी आर्थिक पृष्ठभूमि का था। समीर दो गरीब था। जैसा कि आपने पहले पढ़ा है, यह अन्तर विविधता का पहलू नहीं है। यह तो असमानता है। बहुत लोगों के पास अपने खाने, कपड़े और घर की मूल ज़रूरतों को पूरा करने के लिए साधन और पैसे नहीं होते हैं। इस कारण दफ्तरों, अस्पतालों, स्कूलों, आदि में उनके साथ भेदभाव किया जाता है।

कुछ लोगों को विविधता और असमानता पर आधारित दोनों ही तरह के भेदभाव का सामना करना पड़ता है। एक तो इस कारण कि वे उस समुदाय के सदस्य हैं जिनकी संस्कृति को मूल्यवान नहीं माना जाता। ऊपर से यदि वे गरीब हैं और उनके पास अपनी ज़रूरतों को पूरा करने के साधन नहीं हैं, तो इस आधार पर भी भेदभाव का सामना कई जनजातीय लोगों, धार्मिक समूहों और खास क्षेत्र के लोगों को करना पड़ता है।

भेदभाव का सामना करने पर

अपनी आजीविका चलाने के लिए लोग अलग–अलग तरह के काम करते हैं – जैसे पढ़ाना, बर्तन बनाना, मछली पकड़ना, बढ़ईगिरी, खेती एवं बुनाई इत्यादि। लेकिन कुछ कामों को दूसरों के मुकाबले अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। सफाई करना, कपड़े धोना, बाल काटना, कचरा उठाना जैसे कामों को समाज में कम महत्व का माना जाता है। इसलिए जो लोग इन कामों को करते हैं उनको गन्दा और अपवित्र माना जाता है। यह जाति व्यवस्था का एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण पहलू है।

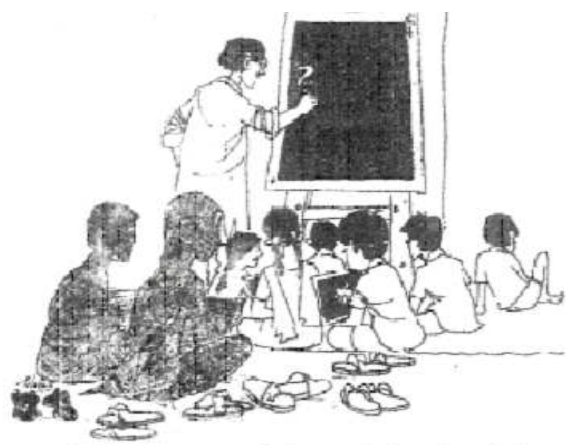

जाति के आधार पर कक्षा में किसी बच्चे को दूसरे बच्चों से अलग बैठाना भेदभाव का एक रुप है।

जाति व्यवस्था में लोगों के समूहों को एक तरह की सीढ़ी के रूप में रखा गया जिसमें एक जाति, दूसरी जाति के ऊपर या नीचे थी। जिन्होंने अपने आपको इस सीढ़ी में सबसे ऊपर रखा उन्होंने अपने को ऊँची जाति का और उत्कृष्ट कहा। जिन समूहों को इस सीढ़ी के नीचे रखा गया उनको "अछूत" और अयोग्य कहा गया। जाति प्रथा के नियम एकदम निश्चित थे। इन 'अछूतों' को दिए गए काम के अलावा और कोई काम करने की इजाजत नहीं थी।

इस तरह के भेदभाव के खिलाफ लगातार संघर्ष चलता रहा और पिछली शताब्दी में पेरियार व भीमराव अम्बेडकर जैसे नेताओं ने ऐसी व्यवस्थाओं के खात्मे के लिए तथा सभी लोगों को सम्मान से जीने के अधिकार के लिए महत्त्वपूर्ण आन्दोलन चलाए। इन बातों के बारे में हम आगे और विस्तार से पढ़ेंगे।

दलित के अलावा कई अन्य समुदाय हैं, जिनके साथ भेदभाव किया जाता है। क्या आप भेदभाव के कुछ अन्य उदाहरण सोच सकते हैं ?

उन तरीकों पर चर्चा कीजिए जिनके द्वारा 'खास ज़रूरतों वाले लोगों के साथ भेदभाव किया जा सकता है।

समानता के लिए संघर्ष

ब्रिटिश शासन से आज़ादी पाने के लिए जो संघर्ष किया गया था उसमें समानता के व्यवहार के लिए किया गया संघर्ष भी शामिल था! दलितों, औरतों, जनजातीय लोगों और किसानों ने अपने जीवन में जिस गैर–बराबरी का अनुभव किया, उसके खिलाफ उन्होंने लड़ाई लड़ी।

जैसे कि पहले भी बात हुई, बहुत सारे दलितों ने संगठित होकर मन्दिर में प्रवेश पाने के लिए संघर्ष किया। महिलाओं ने माँग की कि जैसे पुरुषों के पास शिक्षा का अधिकार है वैसे ही उन्हें भी अधिकार मिले। किसानों और दलितों ने अपने आपको साहूकारों और उनकी ऊँची ब्याज की दरों से छुटकारा दिलाने के लिए संघर्ष किया।

1947 में भारत जब आज़ाद हुआ और एक राष्ट्र बना तो हमारे नेताओं ने समाज में व्याप्त कई तरह की असमानताओं पर विचार किया। संविधान को लिखने वाले लोग भी इस बात से अवगत थे कि हमारे समाज में कैसे भेदभाव किया जाता है और लोगों ने उसके खिलाफ किस तरह संघर्ष किया है। कई नेता इन लड़ाईयों का हिस्सा थे जैसे डॉ. अम्बेडकर। इसलिए नेताओं ने संविधान में ऐसी दृष्टि और लक्ष्य रखा जिससे भारत में सभी लोगों को बराबर माना जाए। समानता को एक अहम मूल्य की तरह माना गया है जो हम सभी को एक भारतीय के रूप में जोड़ती है। प्रत्येक व्यक्ति को समान अधिकार और समान अवसर प्राप्त हैं। अस्पृश्यता यानी छूआछूत को अपराध की तरह देखा जाता है और इसे कानूनी रूप से खत्म कर दिया गया है। लोग अपनी पसन्द का काम चुनने के लिए बिलकुल आज़ाद हैं। नौकरियाँ सभी लोगों के लिए खुली हुई हैं। इन सबके अलावा संविधान ने सरकार पर यह विशेष ज़िम्मेदारी डाली थी कि वह गरीबों और मुख्यधारा से अलग–थलग पड़ गए समुदायों को समानता के इस अधिकार के फायदे दिलवाने के लिए विशेष कदम उठाए।

संविधान के लेखकों ने यह भी कहा कि विविधता की इज्ज़त करना, उसे मूल्यवान मानना समानता सुनिश्चित करने में बहुत ही महत्वपूर्ण कारक है। उन्होंने यह महसूस किया कि लोगों को अपने धर्म का पालन करने, अपनी भाषा बोलने, अपने त्यौहार मनाने और अपने आपको खुले रूप से अभिव्यक्त करने की आज़ादी होनी चाहिए। उन्होंने कहा कि कोई एक भाषा, धर्म या त्यौहार सबके लिए अनिवार्य नहीं बनना चाहिए। उन्होंने ज़ोर दिया कि सरकार सभी धर्मों को बराबर मानेगी। इसीलिए भारत एक धर्मनिरपेक्ष देश है जहाँ लोग बिना भेदभाव के अपने धर्म का पालन करते हैं। इसे हमारी एकता के महत्त्वपूर्ण कारक के रूप में देखा जाता है कि हम इकट्ठे रहते हैं और एक–दूसरे की इज्ज़त करते हैं।

हालाँकि हमारे संविधान में इन विचारों पर ज़ोर दिया गया है, पर यह पाठ इसी बात को उठाता है कि असमानता आज भी मौजूद है। समानता वह मूल्य है जिसके लिए हमें निरन्तर संघर्ष करते रहना होगा। भारतीयों के लिए समानता का मूल्य वास्तविक जीवन का हिस्सा बने, सच्चाई बने, इसके लिए लोगों के संघर्ष, उनके आन्दोलन और सरकार द्वारा उठाए जाने वाले कदम बहुत ज़रूरी हैं।

अभ्यास

1. निम्नलिखित कथनों का मेल कराइए। रूढ़िबद्ध धारणाओं को कैसे चुनौती दी जा रही है, इस पर चर्चा कीजिएः

(क) दो डॉक्टर खाना खाने बैठे थे और उनमें से एक ने मोबाइल पर फोन करके

1. दमा का पुराना मरीज़ है!

(ख) जिस बच्चे ने चित्रकला प्रतियोगिता जीती वह मंच पर

2. एक अन्तरिक्ष यात्री बनने का सपना अन्ततः पूरा हुआ।

(ग) संसार के सबसे तेज़ धावकों में से एक

3. अपनी बेटी से बात की जो उसी समय स्कूल से लौटी थी।

(घ) वह बहुत अमीर नहीं थी, लेकिन उसका

4. पुरस्कार लेने के लिए एक पहियोंवाली कुर्सी पर गया!

2. लड़कियाँ माँ–बाप के लिए बोझ हैं, यह रूढ़िबद्ध धारणा एक लड़की के जीवन को किस तरह प्रभावित करती है? उसके अलग–अलग पाँच प्रभावों का उल्लेख कीजिए।

3. भारत का संविधान समानता के बारे में क्या कहता है? आपको यह क्यों लगता है कि सभी लोगों में समानता होना ज़रूरी है?

4. कई बार लोग हमारी उपस्थिति में ही पूर्वाग्रह से भरा आचरण करते हैं। ऐसे में अक्सर हम कोई विरोध करने की स्थिति में नहीं रहते, क्योंकि मुँह पर तुरन्त कुछ कहना मुश्किल जान पड़ता है। अपनी कक्षा को दो समूहों में बाँटिए और प्रत्येक समूह इस पर चर्चा करे कि दी गई परिस्थिति में वे क्या करेंगेः–

(क) गरीब होने के कारण एक सहपाठी को आपका दोस्त चिढ़ा रहा है।

(ख) आप अपने परिवार के साथ टी. वी. देख रहे हैं और उनमें से कोई सदस्य किसी खास धार्मिक समुदाय पर पूर्वाग्रहग्रस्त टिप्पणी करता है।

(ग) आपकी कक्षा के बच्चे एक लड़की के साथ मिलकर खाना खाने से इन्कार कर देते हैं क्योंकि वे सोचते हैं कि वह गन्दी है।

(घ) किसी समुदाय के खास उच्चारण का मज़ाक उड़ाते हुए कोई आपको चुटकुला सुनाता है।

(ड) लड़के, लड़कियों पर टिप्पणी कर रहे हैं कि लड़कियाँ उनकी तरह नहीं खेल सकतीं।

उपर्युक्त परिस्थितियों में विभिन्न समूहों ने कैसा बर्ताव करने की बात की है, इस पर कक्षा में चर्चा कीजिए, साथ ही इन मुद्दों को उठाते समय कक्षा में कौन–सी समस्याएँ आ सकतीं हैं, इस पर भी बातचीत कीजिए।

।।।।।।।।।

खब– जाति और जनजाति

पठन सामग्री क्र.– 3

भारतीय समाज में जाति–व्यवस्था और बदलाव

वर्ण और जाति

यह पठन सामग्री श्यामाचरण दुबे द्वारा लिखित तथा वंदना मिश्र द्वारा अनुवादित 'भारतीय समाज' के अध्याय 3 भवर्ण और जाति 2008 पृष्ठ – 42 से 57. से लिया गया है। इस पठन सामग्री में मुख्य रुप से भारतीय समाज के व्यापक विभाजन तथा उसके उप–विभाजन को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। वर्ण क्या है? जाति क्या है? इनकी क्या मुख्य विशेषताएँ हैं? वर्तमान में जनतांत्रिक चुनावों में किस तरह जाति का उपयोग हो रहा है? इस सामग्री का अध्ययन व्यक्तिगत रूप से करते हुए कक्षा में अपनी–अपनी समझ को प्रस्तुत करें। इससे जातिगत भेदभाव के सूक्ष्म रूप की पहचान करने में आपको मदद मिलेगी।

भारतीय समाज, श्यामाचरण दुबे, अनुवाद वंदना मिश्र, नेशनल बुक ट्रस्ट ऑफ इंडिया, 2008 पृष्ठ – 42 से 57.

जाति व्यवस्था को समझने में कठिनाई

भारतीय समाज में व्यापक विभाजन तथा उप–विभाजन जटिल तथा भ्रम उत्पन्न करने वाले हैं। उनके सरलीकरण का प्रयास एक बिन्दु के आगे जाने पर सामाजिक यथार्थ की विकृत छवि प्रस्तुत कर सकता है। मनु स्मृति जैसे धर्म ग्रन्थों और सामाजिक संहिताओं ने सामाजिक व्यवस्था की रूपरेखा प्रदान की है, लेकिन मुख्यतः वे यही बताती हैं कि इसे क्या होना चाहिए, यह नहीं बतातीं कि यह क्या है। लेकिन ज़मीनी वास्तविकता अलग है।

भारत पर लिखने वाले अनेक आधुनिक लेखकों ने स्थिति का अत्यन्त सरलीकरण कर दिया है। उदाहरण के लिए 'चार जातियों वाली व्यवस्था' (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) की बात बहुत भ्रामक है क्योंकि जातियाँ असंख्य हैं, जिनका वर्गीकरण तथा स्थिति बहुत अस्पष्ट है।

मानव शास्त्रियों और समाजशास्त्रियों द्वारा कुछ क्षेत्रों में किए गए विशेष अध्ययन इस व्यवस्था के काम करने के ढंग का समुचित विवरण देते हैं। लेकिन इन्हें राष्ट्रीय फलक पर लागू नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह व्यवस्था देश के विभिन्न हिस्सों में अलग–अलग ढंग से संचालित है।

जातिगत समूह और समुदाय अपनी पहचान को लगातार पुनर्परिभाषित कर रहे होते हैं और अपने अतीत की छवि की पुनर्रचना कर रहे होते हैं, अतः उनकी सामाजिक हैसियत बदलती रहती है। सामाजिक व्यवस्था में अपनी स्थिति के विषय में स्वयं उनके विचार लगातार बदलते जाते हैं, पर उनकी परिवर्तित पहचान को सामान्य सामाजिक स्वीकृति मिलने की प्रक्रिया धीमी होती है।

पहचान अनेक

भारतीयों की पहचान कई प्रकार से होती है। सन्दर्भ से ही यह निर्धारित होता है कि वह अपनी पहचान किस रूप में कर सकता है। कुछ सन्दर्भों में धर्म, निवास स्थान, या परिवार सूचक नाम पर्याप्त हो सकते हैं। लेकिन

अन्य स्थितियों में उसे अपनी जाति, गोत्र और कुल का विवरण देना पड़ सकता है। जाति को अँग्रेज़ी में सामान्यतः कास्ट (caste) कहते हैं लेकिन कास्ट का इस्तेमाल अनेक और बहुत अलग–अलग अर्थों में किया जाता है। यह एक पूरे वर्ण का द्योतक हो सकता है, अथवा एक समान नाम वाले जाति अपने समूह के भीतर विवाह करने वाले (अन्तर्विवाही) समूह का द्योतक हो सकती है – जिसकी अपनी विशिष्ट समाजिक हैसियत है। अथवा ऐसे समूह का द्योतक भी हो सकती है जो उस समूह का उप–विभाग अथवा उससे छिटककर अलग हुआ समूह हो। इस पुस्तक में जाति शब्द का प्रयोग इन तीनों में से दूसरे अर्थ में किया जायेगा। दूसरी ओर 'गोत्र' जाति का वह उप–विभाग है जो अपने समूह से बाहर विवाह करने वाला है। व्यक्ति अपनी जाति में किन्तु अपने 'गोत्र' से बाहर विवाह करता है। गोत्र सूदूर अतीत के सह पूर्वज की सन्तान होना इंगित करता है। पूर्वज प्रायः कोई मिथकीय चरित्र अथवा ऋषि अथवा उनका शिष्य होता है। अनेक जातियाँ – विशेषकर वे जो कर्मकाण्डीय स्तरीकरण के निचले स्तरों पर हैं – जनजातीय गणचिह्मों को मानती हैं और अतीत में किसी पशु अथवा वस्तु से अपने वंश का आरम्भ तलाशती हैं। कुल (अथवा वंश) एक वंशपरम्परा का प्रतिनिधित्व करती हैं, जो पाँच या छह पीढ़ियों तक पीछे जाती हैं। इसके बाद यह परम्परा धुन्धला जाती है। कुछ जातियों और जनजातियों के अपने पेशेवर चारण, भाट और गवैए होते हैं। वे प्रायः काफी लम्बी वंशावली – जो उस समूह के मिथकीय पूर्वज तक जाती है – का विवरण देते हैं। निःसन्देह, इस वंशावली का अधिकांश हिस्सा कपोल–कल्पित होता है। इसमें वर्णित पूर्वजों के महान कार्यों, साहस और वीरता के विवरण भी गढ़े हुए होते हैं। हम पहले वर्ण और फिर जाति पर अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे।

वर्ण

हिन्दू समाज व्यवस्था में वर्ण केवल सन्दर्भ के काम आने वाला वर्ग है। यह सामाजिक संरचना में सक्रिय इकाई नहीं है। यहाँ वर्ण सिर्फ विभिन्न जातियों की निर्धारित सामाजिक हैसियत ॅ;जंजनेद्ध के बारे में मोटी–मोटी जानकारी देता है। यह वर्गीकरण का काम भी करता है। क्षत्रिय, शूद्र आदि वर्ण के भीतर एक समान तयशुदा हैसियत (ritual status) वाली अनेक जातियाँ एक साथ एक ही समूह में रखी गई हैं और उनका स्तर निर्धारित होता है। ऊपरी तीन स्तरों – ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को द्विज वर्ण (जिनका जन्म दो बार हो) माना जाता है, क्योंकि भौतिक जन्म लेने के बाद उनका दूसरा जन्म तब होता है जब उनका उपनयन संस्कार होता है। चौथे स्तर –"शूद्र – के अंतर्गत दस्तकारों और व्यवसाय विशेष में दक्ष जातियाँ आती हैं जो स्वच्छ अर्थात साफ–सुथरे व्यवसायों में रत् हैं। वर्ण यहाँ समाप्त हो जाते हैं लेकिन एक पाँचवा स्तर भी है जिसमें वे सारे लोग आ जाते हैं जिनके लिए माना जाता है कि वे अपवित्र माने जाने वाले अस्वच्छ पेशों में लगे हैं। वे "अन्त्यज" अर्थात वर्ण व्यवस्था से बाहर हैं। इस स्तर की जातियों के समूह को अछूत/अस्पृश्य कहा जाता था। कानून के जरिए अस्पृश्यता उन्मूलन हो गया है लेकिन व्यवहार में छिपे और खुले दोनों रूपों में यह प्रथा देश के लगभग सभी भागों में आज भी जारी है। अनुसूचित जातियाँ – 'अन्त्यज', जिन्हें गाँधीजी ने हरिजन कहा और जो अब स्वयं को दलित कहती हैं – भारत की कुल जनसंख्या का लगभग 16 प्रतिशत हैं। अनुसूचित जातियाँ – आदिवासी, आदिमजाति अथवा गिरिजन, जो जनसंख्या का 7 प्रतिशत हैं वे भी इसी श्रेणी में हैं; हालाँकि उनमें से अधिकतर अस्पृश्यता के कलंक से बची रही हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर पाँच स्तर हैं जिनमें जातियों की बड़ी संख्या वर्गीकृत तथा समूहीकृत है।

उपरोक्त चित्रण एक अति सरलीकृत चित्र प्रस्तुत करता है। इसमें सामाजिक व्यवस्था का यथार्थ प्रतिबिम्बित नहीं होता जो कहीं अधिक जटिल है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है अछूत जातियाँ चातुर्वर्ण व्यवस्था से बाहर हैं जबकि वे हिन्दू सामाजिक व्यवस्था का ही एक हिस्सा हैं। इस व्यवस्था में अन्य अस्पष्टताएँ भी हैं। उत्तरी और पूर्वी भारत के कायस्थों को किस वर्ण में रखा जाएगा? केरल के नायरों को कौन–सा दर्जा दिया जाएगा – क्षत्रिय अथवा शूद्र? वस्तुतः इस व्यवस्था में कोई एकरूप अखिल भारतीय सोपानबद्धता नहीं है, विशिष्ट सामाजिक हैसियत के क्रम में कुछ जातियों का एक क्षेत्र में एक स्थान है तो दूसरे क्षेत्रों में दूसरा, यहाँ तक कि वर्णों का वितरण भी पूरे हिन्दू समाज में एक जैसा नहीं है। दक्षिण में क्षत्रिय और वैश्य लगभग नहीं हैं। यर्थाथ

में सोपानबद्ध वर्णक्रम उतने स्पष्ट नहीं हैं जैसा कि वे मॉडल में प्रतीत होते हैं। कुछ जातियों की स्थिति अस्पष्ट है और उन पर राज दरबारों में विद्वत मण्डलियों में तथा आधुनिक समय में न्यायालयों में विवाद हुए हैं। ऐसे विवादों के परिणामस्वरूप प्रायः संघर्ष भी हुए हैं और इनसे प्राप्त उत्तर परस्पर विरोधी रहे हैं। वर्ण की सामाजिक हैसियत की अपरिवर्तनीयता को चुनौती दी गई है। यहाँ तक कि धार्मिक ग्रन्थों में जन्मजात हैसियत के ऊपर उठने या नीचे होने के उदाहरण मिलते हैं। यहाँ तक कि पूरी जाति के स्तर को अपेक्षित मानदण्डों के न पालन करने पर कमतर कर देने के भी उदाहरण मिलते हैं। भक्ति सम्प्रदाय के सन्त कवियों ने इस तरह की अपरिवर्तनशीलता पर प्रश्नचिन्ह लगाए हैं तथा इस व्यवस्था की कठोरता और असमानता के विरूद्ध समय–समय पर शक्तिशाली आन्दोलन हुए हैं।

सामाजिक व्यवस्था के कार्य संचालन में "वर्ण" का उपयोग सीमित है। लेकिन वास्तव में सक्रिय इकाई जाति, परिवार, वंश और नातेदारी का संजाल ही है।

जाति की विलक्षणता पर विस्तृत चर्चा करने से पूर्व हम "जातियों" (कास्ट्स) की उत्पत्ति के सिद्धान्तों पर संक्षिप्त दृष्टि डाल लें जो वास्तव में वर्ण से सीधे सम्बन्धित है। ये सिद्धान्त वस्तुतः जातियों के नहीं, वरन् वर्णों की उत्पत्ति की व्याख्या करते हैं।

दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त सुप्रसिद्ध है और इसका उदाहरण अक्सर दिया जाता है। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में इसकी शुरूआत देखी जा सकती है। मान्यता है कि समाज के ये चार वर्ग 'पुरूष' – सृष्टा, प्रथम पुरुष – के आत्म बलिदान से उत्पन्न हुए। कहा जाता है कि पुरुष ने स्वयं को इसलिए नष्ट कर दिया ताकि एक उचित सामाजिक व्यवस्था जन्म ले सके। बताया जाता है कि ब्राह्मण उसके सिर अथवा मुख से, क्षत्रिय भुजाओं से, वैश्य जंघाओं से तथा शूद्र चरणों से उत्पन्न हुए। यह अधिक से अधिक चारों वर्णों के पद और कार्यों का प्रतीकात्मक विवरण है। सांस्कृतिक देह छवि में सिर, भुजाएँ, जंघाएँ तथा पैर अवरोही क्रम में हैं। पारम्परिक व्यवसाय भी इसी क्रम में हैं। ज्ञान की प्राप्ति और उसका प्रचार–प्रसार तथा यज्ञ कराना – ब्राह्मणों के कार्य – को सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्राप्त थी। पदक्रम में इसके बाद रक्षा और युद्ध, प्रशासन तथा शासन कार्य थे जो क्षत्रियों को सौंपें गए थे। पदक्रम में तीसरा स्थान व्यापार, वाणिज्य और कृषि का था जो वैश्य का काम है। अन्तिम है शिल्प तथा श्रम द्वारा दूसरों की सेवा जो शूद्रों का काम था। यह काम सबसे निम्न कोटि का था।

जाति

जाति शब्द भ्रम उत्पन्न करने वाला है। विभिन्न संदर्भों में इसे भिन्न–भिन्न अर्थों में और भिन्न सामाजिक श्रेणियों के लिए इस्तेमाल किया जाता है। बेहतर होगा कि जाति शब्द का इस्तेमाल उस अन्तर्विवाही समुदाय के लिए किया जाए जिसकी आनुष्ठानिक सामाजिक हैसियत कमोबेश परिभाषित है तथा जिसके साथ कोई व्यवसाय पारम्परिक तौर पर जुड़ा हुआ है। यहाँ दो सावधानियाँ ज़रूरी है। प्रथम, तीन उच्चतर वर्णों का उल्लेख उनके मूल नामों से किया जा सकता है, यद्यपि वास्तविक जातियाँ उनके उप–विभाग हैं। दूसरे, कुछ जाति समूहों का नाम एक ही है और वास्तविक जाति की पहचान इस सांझे नाम के साथ कोई उपसर्ग या प्रत्यय जोड़कर की जाती है। उत्तर भारत के ब्राह्मण अनेक अन्तर्विवाही जातियों में बंटें हैं, जैसे कान्यकुब्ज, सरयूपारीण, गौड़ आदि। महाराष्ट्र में उनका विभाजन देशस्थ, कोंकणस्थ, कर्हादे तथा सारस्वत में है। तमिलनाडू में उनका मुख्य विभाजन आयंगर और अय्यर के बीच है। इन जातियों के भी उप–समूह हो सकते हैं जिनकी कुछ अपनी विशेषताएं हों। ऐसे समूह अनेक प्रकार के हो सकते हैं। उदाहरण के लिए कान्यकुब्जों को एक बीस बिन्दुओं वाले पैमाने पर उनकी निर्धारित सामाजिक हैसियत के अनुसार बिसवे प्रदान किए जाते हैं। बिसवों की संख्या जितनी अधिक होगी उस बिसवे वाला समूह पदक्रम में उतने ही ऊँचे स्थान पर होगा। बिसवा का अर्थ है बीस। जिस वर्ग के पास पूरे बीस बिसवा है वह उच्चतम स्थान पर होता है। शेष समूह उसके बाद अपने अपने बिसवा की संख्या के अनुरूप स्थान पाते हैं। यह आश्चर्यजनक है कि बिसवा की अपनी संख्या को लेकर बीस और अठारह बिसवा वाले समूह अब भी गर्व करते हैं। सरयूपारीण ब्राह्मणों में विभाजन उनकी आनुष्ठानिक शुचिता के

आधार पर होता है। उनमें सर्वोच्च हैं पंक्तिपावन जो कल्पित उच्चतम पवित्रता की पक्ति निर्मित करते हैं। भोजन के समय ये लोग अलग बैठते हैं। कथित रूप से कम पवित्रता वाले उनके साथ नहीं बैठ सकते यद्यपि वे भी सरयूपारीण है। युवा पीढ़ी को अपने ऊपर थोपे गए आनुष्ठानिक प्रथाओं के मानदण्डों का पालन करने में कठिनाई होती है लेकिन उनका एक वर्ग अपनी उच्च आनुष्ठानिक प्रस्थिति की प्रिय स्मृतियाँ अब भी संजोए हुए है।

उच्चतर समूह निम्नतर समूहों के साथ अनुलोम विवाह कर सकते हैं; वे निम्नतर समूहों को अपनी पुत्रियाँ नहीं देगें किन्तु समान श्रेणी के परिवारों में वधू न मिल पाने की स्थिति में वे निचले समूहों की कन्याएँ स्वीकार कर लेंगे। जो द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रीय और वैश्य) नहीं हैं ऐसे भी कुछ जाति समूहों का एक सामान्य नाम होता है। हालाँकि इस समूह में अनेक अलग–अलग अन्तर्विवाही जातियाँ शामिल होती हैं। बाहरी लोग उन्हें समान सामाजिक हैसियत वाली एक इकाई मान लेते हैं लेकिन आन्तरिक रूप में अन्तर्विवाह की सीमाएँ स्पष्टतः परिभाषित होती हैं तथा जाति समूह के घटकों के बीच सूक्ष्म स्थितिभेद बने रहते हैं। दक्षिण में नीलगिरी पहाड़ियों के बडगा का यह वंश नाम है लेकिन वे अनेक जातियों – अन्तर्विवाही समूहों – में विभाजित हैं। प्रत्येक का अपना नाम है और उस जाति समूह के भीतर उनकी अपनी अलग पहचान है। यही स्थिति महाराष्ट्र के कुनबियों और गुजरात के पाटीदार तथा बड़िया की भी है। छत्तीसगढ़ में गड़रिया और कहार समूहों को रावत कहा जाता है लेकिन उनके अन्तर्गत अनेक अन्तर्विवाही जातियाँ हैं, जैसे – कनोजिया, झेरिया, कोसारिया, ओरिया तथा सम्भवतः अन्य। नाइयों, धोबियों सुनारों, लोहारों, कुम्हारों तथा अन्य अनेक जाति समूहों में इसी तरह अन्तर्विवाही जातियों के समूह मौजूद हैं।

यह सरलीकृत विवरण भी भ्रम उत्पन्न करने वाला प्रतीत होता है लेकिन इसे ऐसा होना ही है क्योंकि सामाजिक यथार्थ की जटिलता का कोई अन्त नहीं है। इस प्रकार, हमें इस व्यवस्था की परिकल्पना तीन स्तरों पर करनी होगी – शिखर पर चार मान्यताप्राप्त (और एक मान्यताविहिन) वर्ण हैं जो आनुवांशिक हैं और जिसमें प्रत्येक वर्ण के अन्दर की आनुष्ठानिक सामाजिक हैसियत कमोबेश समान है। मध्य में एक से नाम वाले जाति समूह है जैसे ब्राह्मण, गूजर, या जाट। ये जाति समूह कई अन्तर्विवाही जातियों में उपविभाजित है जैसे कान्यकुब्ज, वडमा, अय्यर (ब्राह्मण जातियाँ)। एकदम नीचे ऐसी अन्तर्विवाही जातियां है जो शिखर और मध्यवर्ती स्तरों के विपरीत न केवल आनुष्ठानिक सामाजिक हैसियत की सूचक हैं बल्कि वे सामाजिक संरचना की प्रभावी एवं कार्यकारी इकाइयाँ भी हैं।

अब हम जाति की कुछ मुख्य विशेषताओं की विवेचना कर सकते है

1. जातियाँ अन्तर्विवाही इकाइयाँ है।
2. वे सोपानबद्धता के अनुसार क्रमबद्ध हैं। (ऊँच–नीच)
3. उनके व्यवसाय अपरिवर्तनीय रूप से जातिगत होते हैं। प्रत्येक जाति का अपना विशिष्ट जातिगत व्यवसाय होता है।
4. विभिन्न जातिगत इकाइयों के बीच परस्पर क्रिया धार्मिक शुचिता अथवा अशुचिता के आधार पर निर्धारित होती है।
5. एक जाति के सदस्य सामान्यतः एक समान संस्कृति के साँझीदार होते हैं – एक समूह के लोगों की जीवन शैली जिसमें आचार–विचार के परम्परागत संरूप होते है। इन संरूपों में विश्वास, मूल्य, आचरण के नियम, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक संगठन सम्मिलित हैं। ये संरुप एक पीढ़ी से अगली पीढ़ी को जैविक आनुवांशिकता से नहीं मिल जाते बल्कि सीखे जाते है।
6. भारत के कई भागों में विभिन्न जातियों के सामाजिक नियंत्रण तथा संघर्ष समाधान के लिए गाँव के भीतर तथा कुछ ग्राम समूहों के बीच जाति पंचायत जैसे तंत्र हैं।

नियम व अपवाद

इन विशेषताओं को व्यापक रूप से सामान्य स्वीकृति प्राप्त है। लेकिन इनमें से प्रत्येक के कुछ अपवाद भी है और ये अपवाद भी स्वीकृत हैं। जाति अन्तर्विवाही समूह हैं, किन्तु कुछ निम्नतर जातियाँ उनमें विवाह करने वाली बाहरी स्त्री या पुरूष को अपने में समाहित कर लेती हैं। ऐसे विवाहों से उत्पन्न बच्चों को जाति पूरी तरह स्वीकार करती है। कुछ उच्चतर जातियाँ भी अनुलोम विवाहों की अनुमति देती है। अनुलोम विवाह में पुरूष तनिक नीची जातियों की स्वीकृत दायरे के भीतर की लड़की से विवाह कर सकता है। उनकी सन्तान निष्कलंक होती है और उसे जाति की सम्पूर्ण सदस्यता दी जाती है। जाति की एक महत्वपूर्ण विशेषता है सोपानबद्धता किन्तु सामाजिक हैसियत और पदक्रम (रैंक), के सूचक सुस्पष्ट एवं सुपरिभाषित नहीं है। तीनों द्विज स्तरों की प्रत्येक जाति अपने लिए उच्चतर सामाजिक हैसियत का दावा करती है और अपने ही स्तर की अन्य जातियों द्वारा किए गए ऐसे ही दावों पर विवाद खड़ा करती है। चौथे स्तर अर्थात शूद्रों में अधिक भ्रम की स्थिति है। अनेक जातियाँ अपने मिथकीय अतीत की पुनर्रचना में लगी हैं और अपनी निर्धारित सामाजिक हैसियत से उच्चतर आनुष्ठानिक सामाजिक हैसियत का दावा करती हैं। उनके बीच यज्ञोपवीत धारण करने का अधिकार पाने की प्रतिस्पर्धा है। किसी धार्मिक संस्था अथवा अधिकरण द्वारा उन्हें यह अधिकार प्रदान किया जाता है। जातियों के अस्पृश्य स्तर के भीतर भी अस्पृश्यता की प्रथा है। आन्ध्र प्रदेश में 'माला' जाति के लोग स्वयं को 'मडीगा' से श्रेष्ठ मानते हैं। महाराष्ट्र के महार स्वयं को धेड़, मांग तथा अन्य दलित समूहों से श्रेष्ठ मानते हैं। उत्तर प्रदेश और बिहार में चमार अनुसूचित जातियों की ऊँची जाति है।

व्यवसाय व दर्जा

सोपानबद्धता की विशेषताएँ तथा व्यवसाय परस्पर जुड़े हुए हैं। विभिन्न वर्ण स्तरों तथा उसी वर्ण स्तर अथवा उसके बाहर की अधिकतर जातियों के बीच भी मान्यता प्राप्त आनुष्ठानिक तथा सामाजिक दूरी है। आनुष्ठानिक पवित्रता का एक आधारभूत अंश निर्धारित होता है। यह व्यक्ति को अपने जन्म के संयोग से प्राप्त होता है। एक सामान्य नियम के रूप में कहा जा सकता है कि एक 'स्वच्छ' तथा 'श्रेष्ठ' व्यवसाय जाति को उच्चतर आनुष्ठानिक और सामाजिक स्थिति प्रदान करता है तथा 'अस्वच्छ' व 'अपवित्रकारी' (पॉल्यूटिंग) माने गए व्यवसाय उसे एक निम्नतर सामाजिक हैसियत में पहुँचा देते हैं। ज्ञानार्जन, ज्ञान देना, तथा पुरोहिती कार्य 'पवित्र' तथा उदात्त माने गए हैं, इस कारण ब्राह्मण को सर्वोच्च स्थान मिला है। चमड़े का काम अथवा सफाई के काम (मनुष्य के अपशिष्ट सहित) "अस्वच्छ" तथा "अपवित्रकारी" माने गए है, इस कारण ये काम करने वाली जातियों की सामाजिक हैसियत निम्नतम है। स्वच्छ–अस्वच्छ, पवित्र–अपवित्र की धारणाएं जातियों के अपने भीतर तथा अन्य जातियों के साथ व्यवहार में तथा परस्पर क्रिया में भी प्रवेश कर जाती हैं। वे हिन्दू मानस का अंग बन गई हैं। किन्तु अब चीज़ें बदल रही हैं। समकालीन यथार्थ परम्परा से धीरे–धीरे दूर होता जा रहा है।

विभिन्न जातियों के बीच सम्बन्ध

इस सन्दर्भ में एक और सामान्य सुझाव दिया जा सकता है। जाति जितनी ऊँची होगी उसमें धार्मिक 'शुचिता' बनाए रखने तथा 'अशुचिता' से बचने से सम्बन्धित नियम उतने ही जटिल तथा विस्तृत होंगे। किस जाति के लोग क्या खा सकते हैं या क्या नहीं खा सकते हैं, इसके जटिल नियम होते हैं। इसी प्रकार किस जाति के व्यक्ति से किस तरह का खाना लिया जा सकता है इसके भी जटिल नियम होते हैं।

सहभोज के नियम भी जटिल हैं। एक ही जाति में ऐसे श्रेणीकरण हो सकते हैं जिनमें अन्तर्भोज निषिद्ध है। कान्यकुब्ज ब्राह्मणों के विषय में कहा जाता है, "तीन कनौजिया तेरह चूल्हे"– अर्थात तीन कनौजियों का भोजन तेरह अलग चूल्हों पर पकता है। इस कहावत में स्पष्ट अतिशयोक्ति तो हैं किन्तु यह पूरे परिदृश्य की जटिलता का उदाहरण भी है। यहाँ मुख्य प्रश्न यह है : भोजन के लिए एक साथ बैठने पर कौन किसे अपवित्र करता है? 'पक्के' भोजन के सन्दर्भ में निषिद्ध श्रेणियाँ कम हैं, और कच्चे भोजन के सन्दर्भ में अधिक। जातियों के बीच सामाजिक दूरी देखने का एक अच्छा तरीका है, वैवाहिक दावतों, मृत्यु के बाद दसवें और तेरहवें दिन होने वाले

भोजों अथवा सांस्कृतिक रूप से पाप माना जाने वाला कोई कृत्य करने अथवा कोई गम्भीर सामाजिक अपराध करने के बाद दिए जाने वाले शुद्धिकरण भोजों में अग्रताक्रम (पहले और बाद के क्रम) तथा व्यवस्था, अलगाव और समूहीकरण को देखा जाए। एक दिए गए क्षेत्रीय सन्दर्भ में ये जाति पदक्रम पर प्रकाश डालते हैं।

स्वच्छ जातियों और हीन जातियों की कई श्रेणियों के बीच शारीरिक स्पर्श से बचा जाता है। दक्षिण भारत में अस्पृश्यता प्रथा के अतिरेकपूर्ण उदाहरण मिलते हैं। कुछ निम्नतम जातियों का दर्शन मात्र अपवित्रकारी माना जाता था। फिर वहाॅ ऐसी जातियाॅ भी थीं जिनका छाया सम्पर्क भी अपवित्रकारी था। यह प्रथा तमिलनाडू और केरल में प्रचलित थी। केरल के तियान (ताड़ी उतारने वाले) को नम्बूदिरीपाद ब्राह्मणों से 36 पग तथा पुलायन (खेतिहर) को 96 पग की दूरी रखनी पड़ती थी। अस्पश्यता के सर्वाधिक प्रचलित – तथा सबसे कम कठोर रूप के अन्तर्गत केवल स्वच्छ जातियों के साथ उनका शारीरिक स्पर्श तथा स्वच्छ जातियों के घरों में उनका प्रवेश निषिद्ध था। अछूत जातियों का मन्दिरों में प्रवेश वर्जित था तथा वे गाँव के सॉझा कुएॅ से पानी नहीं ले सकती थीं। उनके घर गाँव से बाहर, प्रायः कुछ दूरी पर होते थे। उन्हें स्कूल में अलग बैठना पड़ता था। चाय की दुकानों में भी उनके लिए निशान लगे प्याले अलग थे जिन्हें उन्हें खुद धोकर अलग रखना पड़ता था। कानूनन अस्पृश्यता का उन्मूलन हो गया है और अनुसूचित जातियों को सिद्धान्त रूप में समान मान लिया गया है। लेकिन द्वेषपूर्ण भेदभाव अब भी किया जाता है तथा भेदभाव के सूक्ष्म रूप अब भी मौजूद हैं।

जाति पंचायत

अधिकतर जातियों में संघर्षों के समाधान के लिए ग्राम और अन्तरग्राम स्तर पर अपने तंत्र हैं। हालाँकि अब ये तंत्र कमज़ोर हो रहे हैं लेकिन इन्हें खारिज नहीं किया जा सकता।

चुनावी राजनीति और जातिवाद

जाति के कर्मकाण्डीय आयाम का आधुनिक समय में काफी क्षरण हुआ हैं, लेकिन जाति को एक अनपेक्षित स्त्रोत से कुछ ताकत मिल गई है। जनतांत्रिक चुनावों में गोलबन्दी के आधारों की आवश्यकता होती है और जातिगत भाईचारे का जबर्दस्त राजनीतिक प्रभाव देखा गया है। इसका व्यापक इस्तेमाल किया गया है लेकिन अनेक चुनाव क्षेत्रों में मुख्य प्रतिद्वन्द्वी एक ही जाति के होते हैं। इससे राजनीति में 'जाति के पत्ते' का प्रभाव कम हो जाता है। एक अन्य प्रवृत्ति भी दिखाई पड़ती है : ग्रामीण परिदृश्य पर अपना नियंत्रण बनाए रखने के लिए धनी और ताकतवर जातियाँ एक साथ मिल रही हैं। यह गठजोड़ निम्नतर समूहों को काबू में रखने के लिए आतंक और अपने आर्थिक तथा राजनीतिक प्रभाव का इस्तेमाल करता है। विद्रोह के हलके से हल्के, क्षीणतम संकेत को शारीरिक हिंसा (इसमें बलात्कार तथा हत्या शामिल है) द्वारा, खड़ी फसल को नष्ट कर तथा गाँव के गाँव को आग लगाकर खामोश कर दिया जाता है। गरीबों को प्रभावशाली लोगों के उम्मीदवारों को वोट देने पर मज़बूर कर अथवा उन्हें मतदान करने से ही रोककर चुनाव परिणामों को प्रभावित किया जाता है। इस प्रकार सत्ता के साथ जाति का गठजोड़ देश की जनतांत्रिक प्रक्रिया को तबाह कर रहा है।

भारत की जाति व्यवस्था की देश और विदेशों में बहुत आलोचना हुई है। फिर भी वर्ण और जाति में असाधारण मज़बूती तथा लचीलापन रहा है और वे अपने ऊपर हुए हर आघात को झेलकर किसी न किसी रूप में बचे हुए हैं। लेकिन बदलते समय में उन्हें अपने को बदलना पड़ा उदाहरण के लिए अस्पृश्यता, सहभोज तथा जातिगत व्यवसायों की प्रथा में काफी ढीलापन आया। लेकिन इसके साथ ही, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, जातियों ने नई राजनीतिक भूमिकाएँ ग्रहण कर ली हैं। इस प्रकार आज़ादी के इतने वर्ष बाद भी वर्ण जातिगत एकता नए सिरे से मज़बूत हो रही है।

ईसाई व मुस्लिम समाज पर जाति का प्रभाव

यह भी हमने देखा है कि कैसे भारत में बाहर से आए धर्मों – विशेषकर ईसाई और इस्लाम – को वर्ण और जाति के साथ समझौता करना पड़ा और उनकी कुछ विशेषताओं को, जो उनके आधारभूत सिद्धान्त का अंग नहीं

थीं, अपनाना पड़ा। आश्चर्यजनक बात यह है कि ये विशेषताएँ आज भी कायम है।

ईसाइयों और मुसलमानों में कोई सुस्पष्ट वर्ण विभाजन नहीं मिलता किन्तु उनमें भी उच्च जाति से धर्म परिवर्तन करने वालों और निम्न जाति के धर्मांतरितों के बीच भेद किया जाता है। उच्च जाति से धर्मांतरित लोग अपनी पहचान ब्राह्मण ईसाइयों या नायर ईसाइयों अथवा राजपूत या त्यागी मुसलमानों के रूप में करते हैं।

जनवरी 1988 में अपनी वार्षिक बैठक में तमिलनाडू के बिशपों ने इस बात पर ध्यान दिया कि धर्मांतरण के बाद भी अनुसूचित जाति के ईसाई परम्परागत अछूत प्रथा से उत्पन्न सामाजिक, शैक्षिक और आर्थिक अति पिछड़ेपन का शिकार बने हुए हैं। फरवरी 1988 में जारी एक भावपूर्ण पत्र में तमिलनाडू के कैथलिक बिशपों ने स्वीकार किया 'जातिगत विभेद और उनके परिणामस्वरूप होने वाला अन्याय और हिंसा ईसाई सामाजिक जीवन और व्यवहार में अब भी जारी है। हम इस स्थिति को जानते हैं और गहरी पीड़ा के साथ इसे स्वीकार करते है।' भारतीय चर्च अब यह स्वीकार करता है कि 1 करोड़ 90 लाख भारतीय ईसाइयों का लगभग 60 प्रतिशत भाग भेदभावपूर्ण व्यवहार का शिकार है। उसके साथ दूसरे दर्जे के ईसाई जैसा अथवा उससे भी बुरा व्यवहार किया जाता है। दक्षिण में अनुसूचित जातियों से ईसाई बनने वालों को अपनी बस्तियों तथा गिरजाघर दोनों जगह अलग रखा जाता है। उनकी 'चेरी' या बस्ती मुख्य बस्ती से कुछ दूरी पर होती है और दूसरों को उपलब्ध नागरिक सुविधाओं से वंचित रखी जाती है। चर्च में उन्हें दाहिनी ओर अलग कर दिया जाता है। उपासना (सर्विस) के समय उन्हें पवित्र पाठ पढ़ने की अथवा पादरी की सहायता करने की अनुमति नहीं होती। बपतिस्मा, दृढ़ीकरण अथवा विवाह संस्कार के समय उनकी बारी सबसे बाद में आती है। नीची जातियों से ईसाई बनने वाले के विवाह और अन्तिम संस्कार के जुलूस मुख्य बस्ती के मार्गों से नही गुजर सकते। अनुसूचित जातियों से ईसाई बनने वालों के कब्रिस्तान अलग हैं। उनके मृतकों के लिए गिरजाघर की घण्टियाँ नहीं बजतीं, न ही अन्तिम प्रार्थना के लिए पादरी मृतक के घर जाता है। अंतिम संस्कार के लिए शव को गिरजाघर के भीतर नहीं ले जाया जा सकता। स्पष्ट है कि 'उच्च जाति' और "निम्न जाति" के ईसाइयों के बीच अन्तर्विवाह नहीं होते और अन्तर्भोज भी नगण्य है। उनके बीच झड़पें आम हैं। नीची जाति के ईसाई अपनी स्थिति सुधारने के लिए संघर्ष छेड़ रहे हैं, गिरजाघर अनुकूल प्रतिक्रिया भी कर रहा है लेकिन अब तक कोई सार्थक बदलाव नहीं आया है। ऊँची जाति के ईसाइयों में भी जातिगत मूल याद किए जाते हैं और छिपे हुए रूप से ही सही लेकिन सामाजिक सम्बन्धों में उनका रंग दिखाई देता है।

मुसलमानों में स्थिति कुछ भिन्न है। नमाज अदा करने के लिए मस्ज़िदों में प्रवेश पर कोई प्रतिबंध नहीं है और अछूत प्रथा स्पष्ट नहीं है। लेकिन सामाजिक स्थिति के सूचक तथा सामाजिक अन्तःक्रिया को नियंत्रित करने वाले वर्ण तथा जाति जैसे विभेद मौजूद हैं। अशरफ और अज्लाफ श्रेणियों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। शरीफ जात (उच्च जाति जैसा वर्ग) और अज्लाफ जात (आम, नीची जाति जैसा वर्ग) की बात करना आम है। ये विभेद विवाह, अन्तर्भोज तथा समारोहों और अन्य सामाजिक आयोजनों में भागीदारी जैसी अर्न्तसमूह सामाजिक अन्तक्रिया का निर्धारण करते हैं। मूल याद किए जाते हैं और हिन्दू धर्म से इस्लाम धर्म अंगीकार करने वाले अब भी बड़े पैमाने पर अपने पुराने जातिगत व्यवसायों में ही लगे हैं। मुगलकाल में सैयद, शेख, मुगल और पठानों के विभाजनों की समानता प्रायः हिन्दू समाज के वर्ण विभाजनों से दिखाई जाती थी और भारत के कुछ भागों में हिन्दू धर्म से इस्लाम ग्रहण करने वाले इन्हीं विभाजनों में से किसी एक में शामिल होना आवश्यक मानते थे। इस्लाम के प्रति यह ठीक है या नहीं यह एक अलग प्रश्न है किन्तु यह तो एक तथ्य है ही कि ऐसा होता है। सैयद, पैगम्बर की बेटी के जरिए, उनके परिवार के वंशज हैं। वे अरब मूल के हैं। लेकिन इस्लाम में धर्मान्तरित अनेक उच्चतर जातियाँ इस सामाजिक हैसियत का दावा करती हैं। धर्मान्तरित ब्राह्मणों ने दावा किया कि उनकी सैयद सामाजिक हैसियत की पुष्टि सम्राट अकबर ने की थी। शेख भी अरब मूल के हैं यद्यपि वे पैगम्बर के वंशज नहीं है। धर्मान्तरितों की पहली पीढ़ी भी खुद को शेख कहती है। दिल्ली का शासक वंश "मुगल", शेख के बाद आता था, वे तुर्की मूल के थे लेकिन तुर्की के आटोमन शासकों से स्वयं को अलग दिखाने के लिए उन्होंने "मुगल" पदनाम ग्रहण कर लिया था। पठान अफगान मूल के थे यद्यपि उनमें से अनेक ने, जिनका अफगानिस्तान से

दूर–दूर तक कोई नाता नहीं था, पठान होने का दावा किया। स्तर कूद और सामाजिक सीढ़ी चढ़ने का काम काफी हुआ। यह प्रवृत्ति एक चुटकुले में, जो बहुत सुरूचिपूर्ण नहीं है, अभिव्यक्त हुई है 'पिछले साल मैं जुलाहा था; इस साल शेख हूँ और अगले साल अगर फसल अच्छी हुई तो मैं सैयद बन जाऊँगा।' उच्च्तर जातियाँ – राजपूत, जाट और अहीर – अपनी पहचान बनाए रहीं। जुलाहा, तेली, भाट, कला और भिश्ती जैसी अनेक जातियों की तुलना कई दृष्टियों से हिन्दू जातियों के साथ की जा सकती है जिनके विशिष्ट व्यवसाय हैं तथा सामाजिक हैसियत के क्रम हैं। जाति के बने रहने से मुसलमान धर्मशास्त्री तथा सामाजिक सुधारक चिन्तित हैं किंतु कट्टरपंथ की ताजा लहर भी इसे नष्ट नहीं कर पाई है।

भारतीय मूल के धर्मों – जैन, बौद्ध तथा सिख – में जाति के जारी रहने के साक्ष्य हैं। नव–बौद्धों को स्वयं को अपनी पूर्व जाति सामाजिक हैसियत से असम्बद्ध करना कठिन लग रहा है। सिख धर्म का समतावादी लोकाचार, जाति और अस्पृश्यता के कारण से भोथरा हो रहा है।

वर्ण और जाति की धारणाओं की पकड़ ऐसी है कि उसने हिन्दू धर्म से आगे बढ़ अन्य धर्मों पर भी अपनी जकड़ बना ली है। जाति और वर्ण को भारतीय समाज के लगभग सभी हिस्सों में सक्रिय देखा जा सकता है। समाज सुधारक भी इस रुझान को बदल पाने में असफल रहे हैं। हालाँकि कुछ समाज सुधारकों ने इसे बदलने के लिए कड़ी मेहनत की थी ।

समकालीन भारतीय समाज इस समय एक अजीब स्थिति में है। वह आधुनिकता और परम्परा – दो विरोधी सिरों – की और खींचा जा रहा है। परम्परा और आधुनिकता दोनों उसे अपनी ओर विपरीत दिशाओं में खींच रही हैं। उनकी मुठभेड़ से कुछ अजीबोगरीब नतीजे सामने आए हैं। देश ने एक ओर लोकतंत्र, समानतावाद, धर्मनिरपेक्षता तथा सामाजिक न्याय की विचारधारा स्वीकार की है और उसे प्रोन्नत कर रहा है, दूसरी ओर आदिकालीन निष्ठाएँ अब भी कायम हैं, शोषणमूलक संरचनाओं को कभी कोई गम्भीर चुनौती नहीं मिली, परम्परा की विकल स्मृति को राजनीतिक लाभ के लिए इस्तेमाल किया जाता है तथा धार्मिक पुनरुत्थानवाद और परवर्ती कट्टरपन से कठोरतापूर्वक नहीं निपटा गया। भावनात्मक तथा बौद्धिक जागरूकता के स्तर पर वर्ण और जाति के ढाँचे के भीतर अन्तर्निहित असमानता तथा अमानवीयता की निन्दा की गई है, लेकिन इसे ढहाने का कोई सार्थक या महत्वपूर्ण कदम नहीं उठाया गया है। देश की लगभग आधी आबादी, जिसमें मुख्यतः अनुसूचित जनजातियाँ, अनुसूचित जातियाँ, तथा अन्य पिछड़े समुदाय हैं, सम्पूर्ण कृषि भूमि में केवल दस प्रतिशत के हिस्सेदार हैं। निर्धन बँधुआ मजदूर तथा अपमानजनक धन्धों में लगे लोगों के पास अपनी दुर्भाग्यपूर्ण दुर्दशा से मुक्ति पाने के रास्ते नहीं हैं। बँधुआ मजदूरी उन्मूलन का अर्थ यही है कि बँधुआ का रूप बदल गया है। भारत में अब भी 41,00,000 खुले पाखाने हैं। एक जाति विशेष वहाँ से मल निकालती है और बन्द डिब्बों अथवा खुले टोकरों में उस मल को अपने सिर पर ढोकर अन्यत्र ले जाती है। वर्ण और जाति के राजनीतिकरण के कारण 'निम्नतर' जातियों पर भाँति–भाँति के अत्याचार हो रहे हैं। अपनी दशा सुधारने के लिए उन्हें अपनी चुनावी ताकत का इस्तेमाल करने से रोका जा रहा है। कुछ क्षेत्रों में जाति का वर्चस्व कमज़ोर हुआ है लेकिन फिर दूसरे क्षेत्रों में इसने खुद को अधिक ताकतवर और दुर्भेद्य बना लिया है। भारतीय समाज, अर्थशास्त्र, तथा राजनीति ने निम्नीकृत, कमज़ोर, तथा असुरक्षितों के हित में केवल जबान हिलाई है लेकिन वे उनकी समस्याओं के निदान का कोई सार्थक, व्यावहारिक हल ढूँढ पाने में असफल रहे हैं। इसका परिणाम असन्तोष तथा प्रतिरोध के रूप में दिखाई दे रहा है। दोनों का औचित्य समझा जा सकता है। परम्परा की अपनी उपयोगिता है किन्तु, उसके प्रति सम्मान को, शोषण, असमानता तथा अन्याय को जारी रखने का बहाना नहीं बनाया जा सकता। वर्ण और जाति की गतिविधियों में कुछ बदलाव आया है किन्तु यह बहुत ही धीमा तथा बहुत ही कम है। कानून ने एक हाथ से जो दिया है – अस्पृश्यता तथा बँधुआ मज़दूरी का उन्मूलन, शिक्षा और रोजगार के क्षेत्र में मुआवजे के रूप में आरक्षण, विवाह में जीवनसाथी चुनने की आज़ादी – उसे सतर्कता में ढीलेपन तथा अप्रभावी अमल की “कृपा” से दूसरे हाथ से छीन लिया गया है।

जाति व्यवस्था में निरन्तरता एवं परिवर्तन

यह पठन सामग्री एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा प्रकाशित कक्षा 12 की पाठ्यपुस्तक 'भारतीय समाज' के अध्याय 3 के पृष्ठ 44 से 52 से ली गई है। जाति व्यवस्था में हो रहे निरन्तर परिवर्तनों की ओर पाठको का ध्यान दिलाना इस सामग्री का मूल उद्देश्य है।

श्री नारायण गुरू (1856–1928)

केरल में जन्मे श्री नारायण गुरू ने सबके लिए भाईचारे का उपदेश दिया और जाति व्यवस्था के कुप्रभावों के विरुद्ध संघर्ष किया। उन्होंने एक शातिपूर्ण लेकिन सार्थक सामाजिक क्रान्ति का नेतृत्व किया और 'सबके लिए एक जाति, एक धर्म, एक ईश्वर' का नारा दिया।

जाति का समकालीन रूप

1947 में भारत को प्राप्त स्वतंत्रता वैसे तो एक बहुत बड़ी घटना थी पर उसके बाद भी भारत को अपने औपनिवेशिक अतीत से पूरी तरह छुटकारा नहीं मिला। राष्ट्रवादी आन्दोलनों के लिए, व्यापक पैमाने पर जनमत जुटाने में भी जातीय भावनाओं एवं आधारों ने अनिवार्य रूप से अपनी भूमिका अदा की थी। 'दलित वर्गो' और विशेष रूप से अस्पृश्य (अछूत) समझी जाने वाली जातियों को संगठित करने के प्रयत्न राष्ट्रवादी आन्दोलन प्रारम्भ होने से पहले ही 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रारंभ हो चुके थे। जातीय अधिक्रम के दोनों सिरों से उच्च कही जाने वाली जातीयों के प्रगतिशील सुधारकों और नीची समझी जाने वाली जातियों के सदस्यों जैसे, पश्चिमी भारत में महात्मा ज्योतिबा फुले और बाबा साहेब अम्बेडकर और दक्षिण भारत में अय्यनकालि, श्री नारायण गुरू, इयोतीदास और पेरियार (ई. वी. रामास्वामी नायकर) दोनों ने ही 1920 के दशक से अस्पृश्यता (छुआछूत) के विरुद्ध अपने विरोधान्दोलन शुरु कर दिए थे। अस्पृश्यता–विरोधी कार्यक्रमों को काँग्रेस की कार्यसूची में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया और जब स्वतंत्रता क्षिजित पर दृष्टिगोचर होने लगी तब तक राष्ट्रवादी आन्दोलन के सम्पूर्ण परिदृश्य में, मोटे तौर पर यह सहमति हो गई कि जातीय विभिन्नताओं का उन्मूलन कर दिया जाए। राष्ट्रवादी आन्दोलन में मुखरित यह प्रबल दृष्टिकोण जाति को एक सामाजिक कुरीति और भारतियों के बीच फूट डालने की एक औपनिवेशिक युक्ति मानता था। लेकिन राष्ट्रवादी नेतागण, जिनमें महात्मा गाँधी प्रमुख थे, सबसे नीची समझी जाने वाली जातियों के उत्थान के लिए अस्पृश्यता तथा अन्य जातीय प्रतिबन्धों के उन्मूलन के पक्ष में समर्थन जुटाने के लिए प्रयत्नशील रहे और साथ ही, भू–स्वामी उच्च जातियों को यह आश्वासन देने में भी सफल रहे कि उनके हितों का भी ध्यान रखा जाएगा।

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय राज्य को ये अन्तर्विरोध विरासत में मिले जो बाद में प्रतिबिम्बित होते रहे। एक ओर तो राज्य जाति प्रथा के उन्मूलन के लिए प्रतिबद्ध था और भारत के संविधान में भी स्पष्ट रूप से इसका उल्लेख किया गया। दूसरी ओर, राज्य उन आमूलचूल सुधारों को लाने में असमर्थ एवं अनिच्छुक था जो जातीय असमानता के लिए आर्थिक आधार को दुर्बल बना देते। एक अन्य स्तर पर भी, राज्य ने यह माना कि यदि वह जाति प्रथा की ओर आँखे बन्द करके काम करेगा तो उससे स्वतः ही जाति आधारित विशेषाधिकार कमज़ोर पड़ जाएँगे और अन्ततोगत्वा इस संस्था का उन्मूलन हो जाएगा। उदाहरण के लिए, सरकारी पदों पर नियुक्तियों के मामले में जाति का कोई ध्यान नहीं रखा जाता था और इस प्रकार अच्छी तरह से शिक्षित उच्च जातियों और अल्प–शिक्षित अथवा अक्सर निरक्षर निम्न जातियों को 'समान' आधार पर प्रतियोगिता करनी पड़ती थी। इसका एकमात्र अपवाद यही था कि अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के लिए कुछ पद आरक्षित होते थे। दूसरे शब्दों में, स्वतंत्रता–प्राप्ति के ठीक बाद के कुछ दशकों तक राज्य ने जातिगत असमानता पर समुचित कार्रवाई करने के लिए पर्याप्त प्रयत्न नहीं किए।

राज्य के विकास सम्बन्धी कार्यकलाप और निजी उद्योग की सम्वृद्धि ने भी आर्थिक परिवर्तन में तीव्रता और गहनता लाकर अप्रत्यक्ष रुप से जाति संस्था को प्रभावित किया। आधुनिक उद्योग ने सभी प्रकार के नए–नए रोजगार के अवसर तैयार किए जिनके लिए कोई जातीय नियम नहीं थे। नगरीकरण और शहरों में सामूहिक

रहन–सहन की परिस्थितियों ने सामाजिक अन्तःक्रिया के जाति–पृथक्कृत स्वरूपों का अधिक समय तक चलना मुश्किल कर दिया। एक अन्य स्तर पर, आधुनिक शिक्षा प्राप्त भारतीय व्यक्तिवाद और योग्यता तंत्र अर्थात योग्यता को महत्व देने के उदार विचारों से आकर्षित हुए और उन्होंने अधिक अतिवादी जातीय व्यवहारों को छोड़ना प्रारम्भ कर दिया। दूसरी ओर, यह भी उल्लेखनीय था कि जाति व्यवस्था कितनी लचीली साबित हुई। औद्योगिक नौकरियों में भर्ती, चाहे वह भर्ती मुम्बई की कपड़ा मिलों में हो या कोलकाता की जूट मिलों में अथवा कहीं अन्यत्र हो, जाति और नातेदारी के आधार पर होती रही। बिचौलिया जो कारखानों या मिलों के लिए मज़दूर भर्ती करता था, अपनी जाति या क्षेत्र के उम्मीदवारों में से मज़दूर चुनता था जिससे उन विभागों या कारखानों में अक्सर एक खास जाति के मज़दूरों का ही बोलबाला रहता था। अछूतों के प्रति खूब भेदभाव बढ़ता जाता था और शहरों में भी इस तरह के पूर्वाग्रह का अभाव नहीं था हालाँकि, यह गाँवों की तुलना में कम था।

यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है कि जाति सांस्कृतिक और घरेलू क्षेत्रों में ही सबसे सुदृढ़ सिद्ध हुई। अन्तर्विवाह यानी अपनी जाति के भीतर विवाह करने की परिपाटी, आधुनिकीकरण और परिवर्तन से बड़े तौर पर अप्रभावित रही। आज भी अधिकांश विवाह जाति की परिसीमाओं के भीतर ही होते हैं हालाँकि, अन्तर्जातीय विवाह अब पहले की तुलना में अधिक हो रहे हैं। किन्तु कुछ परिसीमाएँ अधिक लचीली हो गई हैं अथवा उनमें कुछ दरारें पड़ गई हैं, परन्तु समान सामाजिक, आर्थिक प्रस्थिति के जाति समूहों के बीच के विभाजन को बनाए रखने की अब भी बराबर कोशिश की जाती है। उदाहरण के लिए, उच्च जातियों (जैसे, ब्राह्मण, बनिया, राजपूत) के भीतर अन्तर्जातीय विवाह सम्भवतः पहले से कहीं अधिक हो रहे हैं पर उच्च जाति और पिछड़ी या अनुसूचित जाति के व्यक्तियों के बीच विवाह आज भी न के बराबर ही हो रहे हैं। साथ भोजन खाने के नियमों के मामले में भी स्थिति लगभग ऐसी ही है।

सम्भवतः परिवर्तन का सबसे महत्त्वपूर्ण क्षेत्र राजनीति का क्षेत्र रहा है। स्वतंत्र भारत में अपने प्रारम्भ से ही, लोकतांत्रिक राजनीति गहनता से जाति आधारित रही है। हालाँकि इसका कार्यचालन जटिल से जटिलतर होता गया है और उसके भविष्य के बारे में कुछ कहना बहुत कठिन है फिर भी इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि जाति चुनावी राजनैतिक का केन्द्र–बिन्दु बनी हुई है। 1980 के दशक से तो हमने स्पष्ट रूप से जाति आधारित राजनीति दलों को भी उभरते देखा है। प्रारम्भिक सामान्य चुनावों में ऐसा प्रतीत हुआ कि जातीय भाईचारे की भूमिका चुनाव जीतने में निर्णायक रही थी। परन्तु उसके तुरन्त बाद की स्थिति अत्यन्त जटिल हो गई क्योंकि भिन्न–भिन्न दलों ने जातीय आधार पर मत प्राप्त करने की संभावना का हिसाब लगाने में एक–दूसरे से होड़ शुरू कर दी।

समाजशास्त्रीय संकल्पनाएँ

परिवर्तन की इन प्रक्रियाओं को आजमाने और समझने के लिए समाजशास्त्रियों एवं सामाजिक मानवविज्ञानियों ने नई–नई संकल्पनाएँ गढ़ीं। शायद उन संकल्पनाओं में सबसे अधिक प्रचलित संकल्पनाएँ "संस्कृतिकरण" और "प्रबल–जाति" की हैं, ये दोनों संकल्पनाएँ एम. एन. श्रीनिवास की देन हैं लेकिन इन पर अन्य विद्वानों द्वारा गहनता से चर्चा और आलोचना की गई हैं।

मैसूर नरसिंहाचार श्रीनिवास (1916–1999)
मैसूर नरसिंहाचार श्रीनिवास, भारत के एक अग्रणी समाजशास्त्री और सामाजिक मानवविज्ञानी हैं । वे जाति व्यवस्था पर किए गए कार्य तथा "संस्कृतिकरण" एवं "प्रबल जाति" जैसे शब्दों के लिए जाने जाते हैं । उनकी किताब द रिमेम्बरड विलेज सामाजिक मानवविज्ञान में गाँवों में किए गए सबसे अच्छे अध्ययनों में से एक है।

"संस्कृतिकरण" एक ऐसी प्रक्रिया का नाम है जिसके द्वारा (आम तौर पर मध्य या निम्न) जाति के सदस्य किसी उच्च जाति (या जातियों) की धार्मिक क्रियाओं, घरेलू या सामाजिक परिपाटियों को अपनाकर अपनी सामाजिक प्रस्थिति को ऊँचा करने का प्रयत्न करते हैं। यद्यपि यह प्रक्रिया काफ़ी पुरानी है और स्वतंत्रता–प्राप्ति,

यहाँ तक कि औपनिवेशिक काल से भी पहले अपनाई जाती रही है, लेकिन हाल के समय में इसका बहुत अधिक प्रचार हो गया है। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत समानुकरण के लिए अक्सर ब्राह्मण या क्षत्रिय जातियों के रीति–रिवाजों या परिपाटियों को अपनाया जाता था जैसे, शाकाहारी बन जाना, यज्ञोपवीत धारण करना, कुछ विशिष्ट प्रकार की प्रार्थनाएँ करना और धार्मिक उत्सव मनाना आदि–आदि। संस्कृतिकरण की प्रक्रिया आम तौर पर सम्बन्धित जाति के आर्थिक स्तर में उन्नति होने के बाद या उसके साथ–साथ अपनाई जाती है, यद्यपि यह स्वतंत्र रूप से भी अपनाई जा सकती है। बाद में हुए शोध के फलस्वरूप इस संकल्पना में अनेक संशोधन हो चुके हैं एवं इस संकल्पना के संशोधित संस्करण के लिए सुझाव दिए जा चुके हैं। इनमें यह तर्क भी शामिल है कि संस्कृतिकरण पहले से निषिद्ध किसी अनुष्ठान या सामाजिक विशेषाधिकारों (जैसे, निम्न जाति के लोगों द्वारा यज्ञोपवीत धारण करना, जिसके लिए पहले कठोर दण्ड दिए जाने की व्यवस्था थी) का अवज्ञापूर्ण दावा हो सकता है न कि "निम्न" जातियों द्वारा "उच्च" जातियों का चाटुकारीपूर्ण अनुकरण।

"प्रबल जाति" शब्द का प्रयोग ऐसी जातियों का उल्लेख करने के लिए किया जाता है जिनकी जनसंख्या काफी बड़ी होती थी और जिन्हें स्वतंत्रता–प्राप्ति के बाद किए गए आंशिक भूमि सुधारों द्वारा भूमि के अधिकार प्रदान किए गए थे। इन भूमि–सुधारों ने पहले के दावेदारों से अधिकार छीन लिए थे। ये दावेदार ऊँची जातियों के ऐसे सदस्य होते थे जो इस अर्थ में "अनुपस्थित यानी दूरवासी जमींदार" थे कि वे अपना लगान वसूल करने के अलावा अर्थव्यवस्था में कोई भूमिका अदा नहीं करते थे। वे अक्सर उस गाँव में भी नहीं रहते थे बल्कि उनका आवास कस्बों या शहरों में होता था। अब ये भूमि–अधिकार उस अगले स्तर के दावेदारों को प्राप्त हो गए हैं जो कृषि के प्रबन्ध में तो शामिल थे पर स्वयं भूमि नहीं जोतते थे। ये मध्यवर्ती जातियाँ भी स्वयं परिश्रम नहीं करती थीं, बल्कि भूमि की जुताई, देखभाल आदि के लिए निम्न जातियों के मज़दूरों पर आश्रित थीं, जिनमें विशेष रूप से 'अछूत' जातियों के मज़दूर शामिल थे। किन्तु एक बार जब उन्हें भूमि–अधिकार मिल गए तो फिर उन्होंने पर्याप्त आर्थिक शक्ति प्राप्त कर ली। उनकी बड़ी संख्या ने भी, सार्वजनिक वयस्क मताधिकार पर आधारित चुनावी लोकतंत्र के इस युग में, उन्हें राजनीतिक शक्ति प्रदान की। इस प्रकार, यह मध्यवर्ती जातियाँ देहाती इलाकों में प्रबल जातियाँ बन गईं और क्षेत्रीय राजनीति तथा कृषिक अर्थव्यवस्था में निर्णायक भूमिका अदा करने लगीं। इन प्रबल जातियों के कुछ उदाहरण हैंः बिहार और उत्तर प्रदेश के यादव, कर्नाटक के वोक्कलिग, आन्ध्र प्रदेश के रेड्डी और कम्मा लोग, महाराष्ट्र के मराठे, पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के जाट और गुजरात के पाटीदार।

जातीय पहचान

समकालीन दौर में जाति व्यवस्था में हुए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण फिर भी विरोधाभासी परिवर्तनों में से एक परिवर्तन यह है कि अब जाति व्यवस्था उच्च जातियों, नगरीय मध्यम और उच्च वर्गों के लिए "अदृश्य" होती जा रही है। इन समूहों के लिए जो स्वातंत्र्योत्तर काल की विकासात्मक नीतियों से सर्वाधिक लाभान्वित हुए हैं, जातीयता का महत्व सचमुच कम हो गया प्रतीत होता है क्योंकि अब इसका कार्य भलीभाँति सम्पन्न हो चुका है। इन समूहों की जातीय प्रस्थिति यह सुनिश्चित करने के लिए निर्णायक रही है कि इन समूहों को तीव्र विकास द्वारा प्रदत्त अवसरों का पूरा–पूरा लाभ उठाने के लिए आवश्यक आर्थिक तथा शैक्षिक संसाधन उपलब्ध हों। खास तौर पर, ऊँची जातियों के सम्भ्रान्त लोग आर्थिक सहायता प्राप्त सार्वजनिक शिक्षा, विशेष रूप से विज्ञान, प्रौद्योगिकी, आयुर्विज्ञान तथा प्रबन्धन में व्यावसायिक शिक्षा से लाभान्वित होने में सफल हुए। इसके साथ–साथ, वे स्वतंत्रता–प्राप्ति के बाद प्रारम्भिक दशकों में राजकीय क्षेत्र की नौकरियों में हुए विस्तार का भी लाभ उठा सके। इस प्रारम्भिक अवधि में शेष समाज की तुलना में उनकी अग्रणी स्थिति (शिक्षा की दृष्टि से) ने यह सुनिश्चित कर दिया कि उन्हें किसी गम्भीर प्रतिस्पर्धी का सामना नही करना पड़ा। उनकी दूसरी तथा तीसरी पीढ़ियों में जब उनकी विशेषाधिकार प्राप्त प्रस्थिति और सुदृढ़ हो गई, तब इन समूहों को विश्वास होने लगा कि उनकी प्रगति का जाति से कोई ज़्यादा लेना देना नहीं था। निश्चित रूप से, इन समूहों की तीसरी पीढ़ियों के लिए उनकी आर्थिक तथा शैक्षिक पूँजी अकेले ही यह सुनिश्चित करने के लिए पुर्णतः पर्याप्त है कि उन्हें जीवन में सर्वोत्तम

अवसर प्राप्त होते रहेंगे। इस समूह के लिए, सार्वजनिक जीवन में जाति की कोई भूमिका नहीं रही है, वह धार्मिक रीति–रिवाज, विवाह अथवा नातेदारी के व्यक्तिगत क्षेत्र तक ही सीमित है। किन्तु यह एक विशिष्टीकृत या विभेदित समूह है और इस तथ्य ने आगे एक और जटिलता उत्पन्न कर दी है। यद्यपि विशेषाधिकार या सुविधा प्राप्त इस समूह में ऊँची जाति के लोगों का ही बाहुल्य है, लेकिन ऊँची जातियों के सभी लोगों को यह सुविधा प्राप्त नहीं है, उनमें से कुछ लोग गरीब भी हैं।

जहाँ तक तथाकथित अनुसूचित जातियों और जनजातियों तथा पिछड़े वर्गों का सम्बन्ध है उनके लिए तो उपर्युक्त से विपरीत स्थिति ही घटित हुई है। उनके लिए, जाति और अधिक सदृश्य हो गई, निस्सन्देह उनकी जाति ने उनकी पहचान के अन्य सभी आयामों को डस लिया है। क्योंकि उन्हें विरासत में कोई शैक्षिक और सामाजिक पूँजी नहीं मिली है और उन्हें पहले से संस्थापित उच्च जाति समूह के साथ प्रतिस्पर्धा में उतरना पड़ रहा है इसलिए वे अपनी जातीय पहचान को नहीं छोड़ सकते, क्योंकि यह उनकी बहुत थोड़ी सी सामूहिक परिसम्पत्तियों में से एक है, इसके आगे, वे सभी अभी भी विभिन्न प्रकार के भेदभाव के शिकार हैं। आरक्षण की नीतियाँ और राजनीतिक दबाव में आकर राज्य द्वारा उन्हें दिए गए अन्य संरक्षण ही उनके जीवन को बचाने वाले उपाय हैं परन्तु इन जीवन रक्षक साधनों का उपयोग करना ही उनकी जाति को सर्वाधिक महत्वपूर्ण बना देता है और अक्सर यही उनकी पहचान का वह पक्ष होता है जिसे दुनिया मान्यता देती है।

इस प्रकार जाति रहित प्रतीत होने वाला उच्च जातीय समूह और प्रत्यक्ष रूप से जाति परिभाषित निम्न जातीय समूह इन दोनों समूहों का सन्निधान (पास–पास होना) ही आज की जाति संस्था का एक केन्द्रीय पक्ष है।

।।।।।।।।।

पठन सामग्री क्र.– 4
जनजातीय समुदाय

यह पठन सामग्री एनसीइआरटी की पाठ्यपुस्तक भारतीय समाज कक्षा 12 के अध्याय 3 सामाजिक संस्थाएँः निरन्तरता एवं परिवर्तन (पेज 52 से 58) पर आधारित है

'जनजातीय' एक आधुनिक शब्द है, जो ऐसे समुदायों के लिए प्रयुक्त होता है जो बहुत पुराने हैं और उप–महाद्वीप के सबसे पुराने आदीवासी हैं। भारत में जनजातियों की परिभाषा नकारात्मक शब्दों में अर्थात वे क्या नहीं हैं यह बताकर की जाती है। जनजातियाँ ऐसे समुदाय थे जो किसी लिखित धर्मग्रन्थ के अनुसार किसी धर्म का पालन नहीं करते थे, उनका कोई सामान्य प्रकार का राज्य या राजनैतिक संगठन नहीं था, उनके समुदाय कठोर रूप में वर्गों में नहीं बँटे हुए थे, और सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि उनमें जाति जैसी कोई व्यवस्था नहीं थी, न वे हिन्दू थे और न ही किसान। 'जनजाति' शब्द का प्रयोग औपनिवेशिक युग में प्रारम्भ किया गया था। समुदायों के एक अत्यन्त विषम समुच्चय के लिए एक अकेले शब्द का प्रयोग मुख्य रूप से प्रशासनिक सुविधा की दृष्टि से ही किया गया था।

जनजातीय समाजों का वर्गीकरण

जहाँ तक सकारात्मक विशिष्टताओं का सम्बन्ध है, जनजातियों को उनके "स्थाई" तथा "अर्जित" विशेषकों के अनुसार विभाजित किया गया है। स्थाई विशेषकों या लक्षणों में क्षेत्र, भाषा, शारीरिक विशिष्टताएँ और पारिस्थितिक आवास शामिल हैं।

स्थाई विशेषक

भारत की जनजातीय जनसंख्या व्यापक रूप से बिखरी हुई है, लेकिन कुछ क्षेत्रों में उनकी आबादी काफी घनी है। जनजातीय जनसंख्या का लगभग 85 प्रतिशत भाग 'मध्य भारत' में रहता है जो पश्चिम में गुजरात तथा राजस्थान से लेकर पूर्व में पश्चिम बंगाल और उड़ीसा तक फैला हुआ है और जिसके हृदय–स्थल (मध्य भाग) मध्य प्रदेश, झारखण्ड, छत्तीसगढ़ और महाराष्ट्र तथा आन्ध्र प्रदेश के कुछ भाग स्थित हैं। जनजातीय जनसंख्या के शेष 15 प्रतिशत में से 11 प्रतिशत से अधिक पूर्वोत्तर राज्यों में और बाकी के 3 प्रतिशत से थोड़े–से अधिक शेष भारत में रहते हैं। यदि हम राज्य की जनसंख्या में जनजातियों के हिस्से पर दृष्टिपात करें तो पाएँगे कि पूर्वोत्तर राज्यों में इनकी आबादी सबसे घनी है, वहाँ असम को छोड़कर सभी राज्यों में उनका घनत्व 30 प्रतिशत से अधिक है और अरुणाचल प्रदेश, मेघालय, मिजोरम और नागालैंड जैसे कुछ राज्यों में तो जनजातीय आबादी 60 प्रतिशत से अधिक और 95 प्रतिशत तक है। किन्तु, देश के शेष भागों में जनजातीय जनसंख्या बहुत छोटी है यानी उड़ीसा और मध्य प्रदेश को छोड़कर शेष सभी राज्यों में 12 प्रतिशत से कम है। इनके पारिस्थितिक आवासों में पहाड़ियाँ, वन, ग्रामीण मैदान और नगरीय औद्योगिक इलाके शामिल हैं।

भाषा की दृष्टि से, जनजातियों को चार श्रेणियों में विभाजित किया गया है। इनमें से दो श्रेणियों अर्थात भारतीय–आर्य और द्रविड़ परिवार की भाषाएँ शेष भारतीय जनसंख्या द्वारा भी बोली जाती हैं और जनजातियों में से लगभग 1 प्रतिशत लोग ही भारतीय आर्य परिवार की भाषाएँ और लगभग 3 प्रतिशत लोग द्रविड़ परिवार की भाषाएँ बोलते हैं। दो अन्य भाषा समूह, आस्ट्रिक और तिब्बती–बर्मी, प्राथमिक रूप से जनजातीय लोगों द्वारा बोली जाती हैं, जिनमें से आस्ट्रिक परिवार की भाषाएँ पूर्ण रूप से जनजातीय लोगों द्वारा और तिब्बती–बर्मी

परिवार की भाषाएँ 80 प्रतिशत से अधिक जनजातियों द्वारा ही बोली जाती हैं। जनसंख्या के आकार की दृष्टि से, जनजातियों में बहुत अधिक अन्तर पाया जाता है। सबसे बड़ी जनजाति की जनसंख्या लगभग 70 लाख है, जबकि सबसे छोटी जनजाति यानी अण्डमान द्वीपवासियों की जनसंख्या शायद 100 व्यक्तियों से भी कम है। सबसे बड़ी जनजातियाँ गोण्ड, भील, संथाल, ओरॉंव, मीना, बोडो और मुण्डा हैं, इनमें से सभी की जनसंख्या कम–से–कम दस लाख है। जनजातियों की कुल जनसंख्या 2001 की जनगणना के अनुसार भारत की समस्त जनसंख्या का लगभग 8.2 प्रतिशत या लगभग 8.4 करोड़ व्यक्ति है।

अर्जित विशेषक

जनजातियों का वर्गीकरण दो आधारों द्वारा किया जा सकता है। पहला आजीविका के आधार पर, जनजातियों को मछुआरे, खाद्य संग्राहक और आखेटक (शिकारी), झूम खेती करने वाले, कृषक और बागान तथा औद्योगिक कामगारों की श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। दूसरा हिन्दू समाज में उनके समावेश/आत्मसात्करण के सन्दर्भ में है। यह आत्मसात्करण दो दृष्टिकोणों पर आधारित होता है। इसमें पहले जनजातीय दृष्टिकोण से कुछ जनजातियों का हिन्दू समाज की ओर सकारात्मक झुकाव होता है जबकि कुछ जनजातियाँ उसका प्रतिरोध या विरोध करती हैं। दूसरा मुख्यधारा दृष्टिकोण से, जनजातियों को हिन्दू समाज में मिली प्रस्थिति की दृष्टि से भी देखा जा सकता है, जिसमें कुछ को तो ऊँचा स्थान दिया जाता है पर अधिकांश को आम तौर पर नीचा स्थान ही मिलता है।

जनजाति : एक संकल्पना की जीवनी

1960 के दशक में विद्वानों के बीच इस प्रश्न को लेकर वाद–विवाद होता रहा कि क्या जनजातियों को जाति आधरित (हिन्दू) कृषक समाज के एक सिरे का विस्तार माना जाए अथवा वे पूर्ण रूप से एक भिन्न प्रकार का समुदाय है। जो विद्वान विस्तार के पक्ष में थे उनका कहना था कि जनजातियाँ जाति आधाारित कृषक समाज से मौलिक रूप से भिन्न नहीं हैं, लेकिन उनमें संस्तरीकरण बहुत कम हुआ है (अधिक्रम के स्तर कम हैं) और संसाधनों के स्वामित्व के मामले में वे समुदाय आधारित अधिक और व्यक्ति आधारित कम हैं। किन्तु उनके विरोधी पक्ष का कहना था कि जनजातियाँ जातियों से पूरी तरह भिन्न होती हैं क्योंकि उनमें धार्मिक या कर्मकाण्डीय दृष्टि से शुद्धता और अशुद्धता का भाव नहीं होता जो कि जाति व्यवस्था का केन्द्र–बिन्दु है।

संक्षेप में, जनजाति और जाति के बीच के अन्तर को तीन तर्कों द्वारा देखा जा सकता है। ये तर्क हैं – शुद्धता/शुचिता या अशुद्धता/अशुचिता का प्रचलन होना अथवा न होना, जनजातियों में आम तौर पर सामाजिक संगठन का आधार समता और बन्धुता पर निर्भर होना, जनजातियों के धार्मिक विश्वास का आधार जीववादी होना अर्थात आत्मा मनुष्य के साथ–साथ पेड़–पौधे, पर्वत, पठार, नदी आदि में भी होती है।

1970 के दशक तक आते–आते, जनजाति की सभी प्रमुख परिभाषाएँ दोषपूर्ण दिखाई देने लगीं। यह दर्शा दिया गया कि जनजाति और कृषक समुदाय के बीच किया गया अन्तर सामान्य रूप से अपनाई गई कसौटियों–आकार, पृथक्करण, धर्म और आजीविका के साधनों में से किसी भी कसौटी पर खरा नहीं उतरता। संथाल, गोण्ड और भील जैसी कुछ भारतीय 'जनजातियाँ' बहुत बड़ी हैं और काफी विस्तृत क्षेत्र में फैली हुई हैं। मुण्डा, हो जैसी कुछ अन्य जनजातियाँ काफी समय से एक स्थान पर बसकर खेती करने लगीं हैं और यहाँ तक कि बिहार की बिरहोर जैसी शिकारी–संग्राहक जनजातियों ने भी विशेष प्रकार के घर बसा लिए हैं जहाँ रहकर वे टोकरियाँ बुनती हैं और तेल निकालने जैसे अन्य कार्य करती हैं। कुछ अन्य मामलों में यह भी इंगित किया गया है कि अन्य विकल्पों के अभाव में, "जातियों" (या गैर जनजातीय लोगों) ने शिकार और संग्रहण का पेशा अपना लिया है।

– जातियों और जनजातियों के अन्तर को हिन्दू समाज के सन्दर्भ में और उसमें सम्मिश्रण की प्रक्रियाओं को समझने के लिए काफी सारी चर्चाएँ हुई। अलग–अलग समय में अलग–अलग प्रक्रियाएँ थीं जैसे संस्कृतिकरण,

सवर्ण हिन्दुओं द्वारा विजय के बाद विजितों को शूद्रवर्णों के अन्तर्गत शामिल करना, परसंस्कृतिग्रहण (acculturation) और अन्य प्रक्रियाओं द्वारा। भारतीय इतिहास के सम्पूर्ण विस्तार में यह अक्सर देखने को मिलता है कि विभिन्न जनजातीय समूहों को हिन्दू समाज के जातीय अधिक्रम में विभिन्न स्तरों पर आत्मसात् कर लिया गया, क्योंकि जमीनों पर बस्तियाँ बसा दी गईं और जंगलों का सफाया कर दिया गया। इसे या तो स्वाभाविक तथा समानान्तर प्रक्रिया के रूप में देखा गया जिसके द्वारा हिन्दू समाज के पंथों के रूप में आत्मसात्मीकरण कर लिया गया या इसे शोषणात्मक प्रक्रिया माना गया। मानवविज्ञानियों की प्रारम्भिक शाखा के लेखकों ने मुख्यधारा में जनजातियों के समावेश के सांस्कृतिक पक्षों पर अधिक बल दिया जबकि परवर्ती लेखकों ने सम्मिलित करने के शोषणात्मक तथा राजनीतिक स्वरूप पर अपना लेखन केन्द्रित किया है।

कुछ विद्वानों का यह भी मानना कि हमारे पास कोई आधार नहीं है जिससे हम यह कह सकें कि जनजाति हमेशा विशुद्ध और मौलिक रही हैं या यह कि यह लोग हमेशा समाज के साथ अछूते रहे हैं। इन विद्वानों का यह कहना है कि हमें जनजातियों को अलग रूप से देखना चाहिये, यह बात राज्य समूहों और जनजातियों के सम्पर्क से निकलकर आती है। जिसमें जनजातीय, राज्य उपनिवेश और शोषण के फलस्वरुप उभरा है।

जनजातीय समुदाय उन पाषाण युगीन आखेटक और संग्राहक समाजों के समान हैं जो सामयिक परिवर्तनों से अछूते रहे हैं अभी भी सामान्य तौर पर यहीं विद्यमान हैं हालाँकि, काफी लम्बे समय से यह सच नहीं रहा है। आदिवासी लोग सदा इतने पीड़ित समूह नहीं थे जितने वे आज हैं। मध्य भारत में अनेक गोण्ड राज्य रहे हैं जैसे, गढ़ा मण्डला या चाँदा। मध्यवर्ती तथा पश्चिमी भारत के तथाकथित राजपूत राज्यों में से अनेक रजवाड़े वास्तव में स्वयं आदिवासी समुदायों में स्तरीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से ही उत्पन्न हुए। आदिवासी लोग अक्सर अपनी आक्रामक क्षमता और स्थानीय सैन्य दलों में अपनी सेवाओं के माध्यम से मैदानी इलाकों के लोगों पर अपने प्रभुत्व का प्रयोग करते हैं। इसके अलावा, वे कुछ विशेष प्रकार की वस्तुओं का व्यापार भी करते थे जिसके अन्तर्गत वे वन्य उत्पाद, नमक और हाथी बेचा करते थे। इसके अतिरिक्त, जब वन्य संसाधनों और खनिजों का दोहन करने और सस्ते श्रमिकों की भर्ती करने के लिए पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का अभियान चला तो उसने काफी समय पहले जनजातीय समाजों को मुख्यधारा वाले समाज के सम्पर्क में ला दिया।

मुख्यधारा के समुदायों का जनजातियों के प्रति रवैया

औपनिवेशिक युग की प्रारम्भिक मानव वैज्ञानिक जनजातियों को पृथक स्वपर्याप्त के रूप में वर्णित किया गया था। लेकिन उपनिवेशवाद उनकी दुनिया में यहाँ अटल परिवर्तन ला रहा था। राजनीतिक और आर्थिक मोर्चे पर, जनजातीय समाजों को पैसा उधार देने वाले तथाकथित साहूकारों की घुसपैठ का सामना करना पड़ रहा था। साथ ही, वे गैर–जनजातीय अप्रवासी, एक जगह पर बस जाने वाले लोगों के हाथों अपनी ज़मीनें खोते जा रहे थे और वनों के आरक्षण की सरकारी नीति और खनन कार्यों का प्रारम्भ हो जाने से वनों तक उनकी पहुँच भी खत्म होती जा रही थी। उपनिवेशक की मुख्य आय भूमि का लगान थी जबकि जनजातियों की मुख्य आय का स्रोत पहाड़ व जंगल था। 18वीं तथा 19वीं शताब्दियों में जनजातीय इलाकों में अनेक विद्रोह हो जाने के बाद, औपनिवेशिक सरकार ने “अपवर्जित” (excluded) और “आंशिक रूप से अपवर्जित” (partially exluded) इलाके निर्धारित घोषित कर दिए जहाँ गैर–जनजातीय लोगों का प्रवेश पूरी तरह निषिद्ध या विनियमित था। इन इलाकों में, ब्रिटिश सरकार स्थानीय राजाओं या मुखियाओं के माध्यम से अप्रत्यक्ष रूप से शासन चलाने के पक्ष में थी।

1940 के दशक में पृथकतावाद व एकीकरणवाद के पक्षधरों के बीच जनजातीय समाज के अस्तित्व को लेकर काफी वादविवाद चला। पृथकतावादी पक्षधरों का कहना था कि जनजातीय लोगों को व्यापारियों, साहूकारों और हिन्दू तथा इसाई धर्म प्रचारकों से बचाना चाहिए क्योंकि ये उन्हें भूमिहीन श्रमिक बनाना चाहते हैं। जबकि एकीकरणवादी पक्षधरों का कहना है कि जनजातीय लोग पिछड़े हिन्दू ही हैं तथा उनकी समस्याओं का समाधान अन्य पिछड़े वर्गों की समस्याओं के समाधान में ही खोजा जाए। इस विरोधी पक्ष का संविधान सभा के वाद–विवादों में बोलबाला रहा और अन्ततः समझौते के तौर पर यह तय किया गया कि जनजातियों के कल्याण

के लिए ऐसी योजनाएँ बनाई जाएँ जिनके माध्यम से उनका नियंत्रित एकीकरण सम्भव हो जाए। इसलिए बाद में जनजातीय विकास की जो भी योजनाएँ बनाई गईं जैसे, पंचवर्षीय योजनाएँ, जनजातीय उप–योजनाएँ, जनजातीय कल्याण खण्ड, विशेष बहुप्रयोजनी क्षेत्र योजनाएँ, वे सभी इसी सोच पर आधारित रही हैं। लेकिन यहाँ बुनियादी मुद्दा यह है कि जनजातियों के एकीकरण ने उनकी अपनी आवश्यकताओं या इच्छाओं की उपेक्षा की है। एकीकरण मुख्यधारा के समाज की शर्तों पर और उन्हीं को लाभान्वित करने के लिए होता रहा है। जनजातीय समाजों से उनकी ज़मीनें और वन छीन लिए गए हैं और विकास के नाम पर उनके समुदायों को छिन्न–भिन्न कर दिया गया है।

राष्ट्रीय विकास बनाम जनजातीय विकास

राज्य की अपने विकास की अवधारणा के आधार पर जनजातियों की आवश्यकता को समझने और उनके लिए नीतियों को बनाने की कोशिश रही है। राष्ट्रीय विकास के नाम पर, विशेष रूप से नेहरू युग में, बड़े–बड़े बाँध बनाए गए, कारखाने स्थापित किए गए और खानों की खुदाई शुरू की गई। क्योंकि जनजातीय इलाके देश के खनिज–सम्पन्न और वनाच्छादित भागों में स्थित थे इसलिए जनजातीय लोगों को शेष भारतीय समाज के विकास के लिए अनुपात से बहुत अधिक कीमत चुकानी पड़ी। इस प्रकार के विकास से, जनजातियों की हानि की कीमत पर मुख्यधारा के लोग लाभान्वित हुए। खनिजों के दोहन और जल विद्युत संयंत्रों की स्थापना के लिए उपयुक्त स्थल जनजातीय इलाकों में स्थित थे, इस कारण जनजातीय लोगों से उनकी ज़मीनें छिनने की प्रक्रिया शुरू हो गई। अधिकांश जनजातीय समुदाय वनों पर आश्रित थे, इसलिए वन छिन जाने से उन्हें भारी धक्का लगा। वनों का दोहन; कटाई तो सुव्यवस्थित रूप से ब्रिटिश काल में ही प्रारम्भ हो गई थी और वह प्रवृत्ति स्वतंत्रता–प्राप्ति के बाद भी जारी रही। जमीनों पर निजी मालिकाना हक; स्वामित्व दिए जाने से भी जनजातीय लोगों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा क्योंकि उनके यहाँ समुदाय आधारित सामूहिक स्वामित्व की प्रथा थी और उसके स्थान पर नई व्यवस्था लागू किए जाने से उन्हें हानि उठानी पड़ी। इसका सबसे हाल का एक उदाहरण नर्मदा पर बनाए जा रहे बाँधों की श्रृंखला है। इस परियोजना से हुआ लाभ जनजातीय लोगों की तुलना में अन्य समुदाय एवं अन्य इलाकों में अधिक दिखाई देता है।

जनजातीय लोगों की घनी आबादी वाले अनेक क्षेत्रों और राज्यों को विकास के दबाव के कारण गैर–जनजातीय लोगों के भारी संख्या में अप्रवास; आकर बसने, की समस्या से भी जूझना पड़ रहा है। इससे जनजातीय समुदायों के छिन्न–भिन्न होने और दूसरी संस्कृतियों के हावी हो जाने का खतरा पैदा हो गया है। उदाहरण के लिए, झारखण्ड के औद्योगिक इलाकों में वहाँ की जनसंख्या में जनजातीय अनुपात कम हो गया है। लेकिन सबसे अधिक नाटकीय स्थिति सम्भवतः पूर्वोत्तर क्षेत्रों में उत्पन्न हुई है। वहाँ त्रिपुरा जैसे राज्य की जनसंख्या में जनजातीय लोगों का अनुपात एक ही दशक में घटकर आधा रह गया, जिसके परिणामस्वरूप वे अल्पसंख्यक बन गए। अरुणाचल प्रदेश द्वारा भी ऐसा ही दबाव महसूस किया जा रहा है।

समकालीन जनजातीय पहचान

मुख्यधारा की प्रक्रियाओं में जनजातीय समुदायों के बलात् समावेश का प्रभाव जनजातीय संस्कृति तथा समाज पर ही नहीं बल्कि उनकी अर्थव्यवस्था पर भी समान रूप से पड़ा है। आज के समय में जनजातियों की पहचान उनके अपने मूल भाव या प्राचीन जैसे आशयों पर आधारित नहीं है पर मुख्यधारा समुदाय से उनके सम्बन्ध से है। यह सम्बन्ध ज़्यादातर जनजातियों के लिए शोषणिक रहा। इस कारण से जनजातियाँ मुख्यधारा समाज के प्रभाव का प्रतिरोध करने पर मज़बूर हुईं।

एक लम्बे संघर्ष के बाद झारखण्ड और छत्तीसगढ़ को अलग–अलग राज्य का दर्जा मिल गया है लेकिन ऐसी सफलताओं का सकारात्मक प्रभाव पहले से चली आ रही समस्याओं के कारण अभी भी दिखाई नहीं दे रहा है। उदाहरण के लिए, पूर्वोत्तर क्षेत्रों के अनेक राज्य कई दशकों से ऐसे विशेष कानूनों के अन्तर्गत, जिनसे वहाँ के निवासियों की नागरिक स्वतंत्रताएँ सीमित हो रही हैं, अपना जीवनयापन कर रहे हैं। इस प्रकार, मणिपुर या

नागालैंड जैसे राज्यों के नागरिकों को वे अधिकार प्राप्त नहीं हैं जो भारत के अन्य नागरिकों को प्राप्त हैं, क्योंकि उनके राज्यों को 'उपद्रवग्रस्त क्षेत्र' घोषित किया जा चुका है। पहले सशस्त्र विद्रोह फिर उनके दमन के लिए सरकार द्वारा उठाए गए कठोर कदम और फिर उनसे भड़के विद्रोहों के दुश्चक्र ने पूर्वोत्तर राज्यों की अर्थव्यवस्था, संस्कृति और समाज को भारी हानि पहुँचाई है। देश के एक अन्य भाग में, झारखण्ड और छत्तीसगढ़ को अपने नवार्जित राज्यत्व का अभी पूरा–पूरा उपयोग करना है। इन राज्यों की राजनीति अभी भी मुख्यधारा की राजनीति जो कि जनजातियों को शक्तिहीन रखती है, से स्वायत्त नहीं हो पा रही है।

एक अन्य महत्वपूर्ण विकास जनजातीय समुदायों में शनैः–शनैः एक शिक्षित मध्यम वर्ग का उद्भव है। पूर्वोत्तर राज्यों में तो यह वर्ग सर्वाधिक दृष्टिगोचर हो रहा है, लेकिन अब यह देश के अन्य भागों में भी, विशेषकर बड़े जनजातीय समुदायों के सदस्यों में साफ दिखाई देने लगा है। आरक्षण की नीतियों के साथ मिलकर, शिक्षा एक नगरीकृत व्यावसायिक वर्ग का निर्माण कर रही है। ज्यों–ज्यों जनजातीय समाजों में अधिकाधिक अन्तर बढ़ता जाएगा अर्थात् उनके भीतर वर्गों एवं विभाजनों का विकास होता जाएगा, त्यों–त्यों जनजातीय पहचान का दावा किए जाने के लिए भिन्न–भिन्न आधार विकसित होते चले जाएँगे।

दो प्रकार के मुद्दों ने जनजातीय आन्दोलनों को बढ़ावा देने में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। पहले प्रकार के मुद्दे वे हैं जो भूमि तथा विशेष रूप से वनों जैसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आर्थिक संसाधनों पर नियंत्रण से सम्बन्धित हैं और दूसरे प्रकार के मुद्दों का सम्बन्ध नृजातीय–सांस्कृतिक पहचान के मामलों से है। ये दो मुद्दे अक्सर साथ–साथ चल सकते हैं, परन्तु जनजातीय समाज में विभिन्नताएँ होने से ये अलग–अलग भी हो सकते हैं। जनजातीय समाजों में मध्यवर्गीय लोगों द्वारा अपनी जनजातीय पहचान का दावा किए जाने के कारण उन कारणों से भिन्न हो सकते हैं जिनके लिए गरीब और अशिक्षित जनजातीय लोग जनजातीय आन्दोलनों में हिस्सा लेते हैं। जैसा कि किसी भी अन्य समुदाय के साथ होता है, इस प्रकार की आन्तरिक गतिशीलताओं और बाह्य शक्तियों के बीच के सम्बन्ध ही इनके भविष्य को रूप प्रदान करेंगे।

जनजातीय पहचान को सुरक्षित रखने का आग्रह दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है। इसका कारण यह हो सकता है कि जनजातीय समाज के भीतर भी एक मध्य वर्ग का उदय हो चला है। नई माँगों व आग्रहों की श्रृंखला भी आरम्भ होते हुए भी दिखाई देती है। जैसे उनकी संस्कृति, परम्परा, पहचान आदि को सुरक्षित रखने की माँग, अपने संसाधनों पर अधिकार रखने की माँग, आधुनिकता की परियोजनाओं से लाभ मिलने की माँग आदि। इसलिए अब जनजातियों में उनके मध्य वर्गो से एक नई जागरूकता की लहर आ रही है। ये मध्य वर्ग स्वयं भी आधुनिक शिक्षा और आधुनिक व्यवसायों का परिणाम है, जिन्हें सरकार की आरक्षण नीतियों से बल मिला है.
..

स्रोतः वर्जीनियस खाखा, कल्चर, पॉलिटिक्स *एंड आइडेंटिटीः द केस ऑफ ट्राइब्स इन इंडिया,* जॉन 2006

|||||||||

पठन सामग्री क्र.– 5

वर्तमान भारत में दलितों की स्थिति व दलित शिक्षा के सवाल

(डॉ. बालचन्द्र मुंगेकर, पूर्व–उप कुलपति मुम्बई विश्वविद्यालय के आलेख पर आधारित)

डॉ अम्बेडकर का मानना था कि अस्पृश्यता कई मायनों में गुलामी से बदतर है। उनका कहना था कि गुलामों को शिक्षा, संस्कृति या धर्म से वंचित नहीं रखा जाता था और गुलाम मुक्त भी हो सकते थे। लेकिन अस्पृश्य माने गए दलित तो जन्म से ही अस्पृश्य माने जाते थे, और इस दशा से उन्हें मुक्ति नहीं मिल सकती थी। साथ ही, उन्हें किसी प्रकार की शिक्षा या संस्कृति से भी वंचित रखा गया। एक गुलाम को पता होता है कि वह गुलाम है – इस कारण वह अन्य गुलामों से मिलकर गुलामी के खिलाफ संघर्ष कर सकता है। लेकिन जाति व्यवस्था में अस्पृश्य जातियों को यह पता तक नहीं है कि वे गुलामी से बदतर ज़िन्दगी जी रहे हैं। यह प्रच्छन्न गुलामी इस कारण और भी खतरनाक हो जाती है क्योंकि दलितों को पता भी नहीं चल पाता है कि वे गुलाम हैं।

जाति व्यवस्था को सदियों से शुद्धता व अशुद्धता की धारणाओं से बल मिलता रहा। लेकिन इसका एक आर्थिक आधार भी था जो लोगों को जन्म से ही खास काम–धन्धों से जोड़ता है। निम्न जातियों व खासकर दलितों को सफाई–सेवा वाले काम ही दिए गए और इन कामों को अपवित्र व घृणित माना गया। इस कारण इनकी हैसियत कम ही बनी रही जबकि उच्च जातियों में काम–पेशों की अधिक स्वतंत्रता थी। इस प्रकार दलितों को उन कामों से दूर रखा गया जिनसे समाज में सम्मान व सम्पत्ति मिलती थी। अतः वे सम्पत्ति जमा करना तो दूर, अपना भरण पोषण तक भी मुश्किल से ही कर पाते थे और अपनी आजीविका के लिए उच्च जातियों पर निर्भर हो गए थे।

इस तरह, जाति व्यवस्था ने दलितों को सामाजिक रूप से बहिष्कृत किया, आर्थिक रूप से कमज़ोर और दूसरों पर निर्भर किया, तथा राजनैतिक रूप से सत्ताविहीन कर दिया। ऐसी परिस्थितियों को बनाए रखने के लिए सबसे कारगर साधन था दलितों को शिक्षा से वंचित रखना।

दलितों की सामाजिक व आर्थिक स्थिति–

सारणी 1

सूचक	अनु. जाति	अन. जन जाति	पूरी आबादी
जनसंख्या (प्रतिशत में)	16.48	08.08	100
साक्षरता कुल (प्रतिशत में)	37.41	29.60	52.21
पुरुष	49.91	40.65	64.13
महिला	32.29	23.76	39.29

खेतिहर मज़दूर	48	—	—
किसान	28.17	—	—
गरीबी रेखा के नीचे आबादी का प्रतिशत		50.00	—
बँधुआ मज़दूरों में प्रतिशत	66.00	—	—
रोज़गार			
खेती आदि	77.14	90.03	67.53
उद्योग आदि	09.83	03.85	11.97
सेवा आदि	13.06	06.12	20.50

(ये सारे आँकड़े 1991 जनगणना तथा 1999 के राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण, खण्ड 12 क्र. 4; अप्रैल–जून 1999 से लिए गए हैं)

इस सारणी के अध्ययन से कई बातें पता चलती हैं:

1. साक्षरता दर पुरूष दलितों व आदिवासियों में भी तुलनात्मक रूप से अन्य जातियों से बहुत कम है।
2. दलित व आदिवासियों की कुल आबादी का क्रमशः केवल 18 प्रतिशत व 7 प्रतिशत शहरों में रहता है। यानी वे ज़्यादातर गाँवों में ही रह रहे हैं।
3. लगभग आधी दलित आबादी खेत मज़दूरी पर निर्भर है और केवल 28 प्रतिशत दलित खुद खेती करते हैं
4. दलित व आदिवासी मुख्यतः खेती–बाड़ी के काम में लगे हैं और उद्योगों या सेवाओं में बहुत कम हैं।
5. इन सब बातों के कारण आधे दलित गरीबी रेखा के नीचे गुज़र–बसर करने पर मज़बूर हैं।

अगर हम जमीन के वितरण की बात पर गौर करें तो पता चलता है कि 18 प्रतिशत दलित भूमिहीन मज़दूर हैं जबकि अन्य जातियों के केवल 11 प्रतिशत लोग भूमिहीन हैं। दलितों में 68.5 प्रतिशत एक हेक्टेयर से कम जमीन वाले किसान हैं। चार हेक्टेर से अधिक जमीन केवल डेढ़ प्रतिशत दलितों के पास है जबकि अन्य जातियों के लोगों में से 6.4 प्रतिशत लोगों के पास 4 हेक्टेयर से अधिक जमीन है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि अधिकांश दलित और कुछ हद तक आदिवासी भी मज़दूरी पर ही आश्रित हैं और किसी प्रकार के उच्च आय वाले काम या स्वतंत्र हैसियत वाले काम नहीं कर पाते हैं।

उपरोक्त बातों से स्पष्ट होता है कि वर्तमान में अगर दलित व आदिवासी अपनी उन्नति चाहते हैं तो उन्हें शिक्षा प्राप्त करके नई नौकरियों में लगना होगा, उद्योगों में शामिल होना होगा और गाँवों से शहरों में जाना होगा। यानी जाति व्यवस्था व जमीन के असमान वितरण के चलते दलितों की उन्नति के लिए शिक्षा अनिवार्य है।

दलित शिक्षा की स्थिति

शहरी महिला							
अनुसूचित जनजाति	50.5	19.1	13.3	7.9	5.3	3.5	100
अनुसूचित जाति	62	17.8	10.1	5.5	3.2	1.2	100
अन्य	32.2	22.2	14.9	13.9	7.8	8.9	100
औसत	36.3	21.6	14.3	12.7	7.2	7.8	100

स्त्रोतः राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण, खण्ड 12 क्रं. 4; अप्रैल–जून 1999

उपरोक्त आँकड़ों से कुछ महत्त्वपूर्ण बातें स्पष्ट होती हैं। क्या आप उन्हें रेखांकित कर सकते हैं?

1. गाँवों में रहने वाले दलित पुरुषों में से लगभग ....प्रतिशत ने प्राथमिक स्तर की शिक्षा भी प्राप्त नहीं की है, जबकि अन्य जातियों में केवल ....प्रतिशत पुरुष ऐसे हैं।
2. गाँवों में रहने वाली दलित महिलाओं में से ....प्रतिशत ने प्राथमिक स्तर की शिक्षा भी प्राप्त नहीं की है, जबकि शहरों में रहने वाली दलित महिलाओं में से ....प्रतिशत ने प्राथमिक शिक्षा प्राप्त नहीं की हैं।
3. गाँवों में रहनेवाले पुरुष में से केवल ....प्रतिशत स्नातक हैं, जबकि शहरों के अन्य जाति के पुरुषों में से ....प्रतिशत स्नातक हैं।
4. गाँव की आदिवासी महिलाओं में से केवल.............................प्रतिशत हाई स्कूल तक पढ़ी हैं, जबकि शहर के ....प्रतिशत पुरुषों हाई स्कूल तक पढ़े हैं।

कुल मिलाकर, यही तस्वीर उभरती है कि अधिकांश दलित व आदिवासी, चाहे वे गाँव में हों या शहर में, उच्च शिक्षा पाकर नौकरियाँ पाने की स्थिति में नहीं हैं।

इस स्थिति के पीछे स्कूलों में दलित व आदिवासी बच्चों का न जाना है। वर्ष 1993–94 के आँकड़ों के अनुसार शालाओं में 5 से 14 साल के बच्चों की उपस्थिति इस प्रकार रही:

सारणी 3 – शाला में 5 से 14 साल के बच्चों की उपस्थिति (समूहवार प्रतिशत में):

	गाँवों में		शहरों में	
	बालक	बालिका	बालक	बालिका
अ. जनजाति	57.9	40.9	79.7	69.7
अ. जाति	64.3	46.2	77.5	68.6
अन्य	74.9	61	86.8	83.0
औसत	71.8	55.9	85.3	80.7

स्त्रोतः राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण, खण्ड 12 क्रं. 4; अप्रैल–जून 1999

इस तालिका से स्पष्ट होगा कि कितने कम दलित व आदिवासी बच्चे स्कूल जा पाते हैं। हालाँकि शहरों में अपेक्षाकृत अधिक बच्चे स्कूल जाते हैं, इसके बावजूद लगभग एक तिहाई बच्चे स्कूलों के बाहर होते हैं। इनमें से भी कुछ ही बच्चे उत्तीर्ण होकर उच्च माध्यमिक शालाओं में जा पाते हैं। लेकिन इसमें हमें एक विशेष बात पर ध्यान देना होगा। शाला जाने वाले दलित व आदिवासी बच्चों का प्रतिशत साल–दर–साल तेज़ी से बढ़ रहा है। इस कारण आने वाले समय में हम अधिक सकारात्मक परिवर्तन की उम्मीद कर सकते हैं।

(हमें याद रखना होगा कि अधिकांश दलित व आदिवासी बच्चे शासकीय शालाओं में ही जाते हैं और पिछले दो दशकों में इन शालाओं में वंचित तबकों के बच्चों के दाखिले के लिए विशेष प्रयास हुए हैं। लेकिन इसके साथ–साथ, यह भी देखा जा सकता है कि शासकीय शालाओं की गुणवत्ता को लेकर गम्भीर चिन्ताएँ बनी हुई हैं और ज़्यादातर साधन–सम्पन्न लोग अपने बच्चों को निजी शालाओं में दाखिल कर रहे हैं)।

पिछले दो दशकों से नीतिगत बदलावों के अंतर्गत शासकीय खर्च कम करने का प्रयास जारी हैं, जिसके परिणामस्वरूप शिक्षा व स्वास्थ्य के लिए आवश्यक खर्च में बहुत कटौती की गई। इस कारण वंचित वर्ग के बच्चों की शिक्षा अवश्य ही प्रभावित हुई होगी। इन्हीं दशकों में विश्व स्तर पर निजीकरण और वैश्वीकरण की प्रक्रियाएँ तेज़ हो रही हैं, जिसके चलते शासकीय नौकरियों में आरक्षण का महत्त्व कम होता जा रहा है और हर स्तर पर

प्रतिस्पर्धा बढ़ रही है। ऐसे में दलितों व आदिवासियों का भविष्य कैसा होगा जबकि उनके पास न जमीन है न उद्योग धन्धे हैं न उच्च शिक्षा। ऐसा प्रतीत होता है कि इस नए युग में सम्मान के साथ जीने में मदद करने के लिए हर दलित बच्चे को शिक्षित करना ही एकमात्र उपलब्ध तरीका है।

इसके लिए कुछ सुझाव इस प्रकार हैः

1. शिक्षित दलितों को दलित समुदायों/जातियों के बीच साक्षरता को बढ़ाने के लिए जन–आन्दोलन छेड़ना होगा।
2. सभी दलित स्वयंसेवी संस्थानों को सुनिश्चित करना होगा कि सभी बच्चे शाला जाएँ।
3. दलितों को सहकारी आधार पर स्कूल, कॉलेज व हॉस्टल स्थापित करने होंगे।
4. दलितों के लिए उच्च शिक्षा तथा व्यावसायिक शिक्षा (वित्त, विपणन, मैंनेजमेन्ट(प्रबन्धन), सूचना प्रौद्योगिकी, पत्रकारिता, मीडिया आदि) के लिए संस्थाएँ चलानी होंगी
5. शासन पर दबाव डालना होगा कि वह वंचित वर्गों/जातियों की शिक्षा पर अधिक खर्च करे और निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था करे।

|||||||||

पठन सामग्री क्र.– 6

जाति व्यवस्था का शिक्षा व शिक्षण पर प्रभाव

विविभन्न स्त्रोतों से।

जाति व्यवस्था में यह निहित धारणा है कि हर व्यक्ति को क्या काम करना है, किस तरह का जीवन जीना है, ये बातें उसके जन्म से तय होना चाहिए। कुछ विशिष्ट जाति के लोगों की सेवा में तमाम अन्य जाति के लोगों को लगे रहना चाहिए। कोई जाति किसी दूसरी जाति की बराबरी करने की कोशिश न करे।

चूँकि शिक्षा एक ऐसा माध्यम है जिसकी मदद से लोग आगे बढ़ सकते हैं और अपनी सामाजिक और आर्थिक हैसियत बदल सकते हैं, इस कारण से निम्न जाति के लोगों की शिक्षा में बहुत से व्यवधान उत्पन्न होते रहे हैं। शालाओं में उच्च वर्ण के लोगों की भाषा, संस्कृति व तौर–तरीकों का प्रभाव अधिक होता है, जहाँ निम्न तबके के बच्चों को काफी मुश्किलें उठानी पड़ती हैं। आम तौर पर शिक्षक उच्च तबकों के होते हैं और निम्न जातियों के प्रति उनमें पूर्वाग्रह होता है। कई शिक्षक तो मानते हैं कि निम्न तबके के लोग सीख ही नहीं सकते हैं। अन्य कुछ लोग सोचते हैं कि अगर निम्न जाति के लोग पढ़–लिख जाएँ तो उच्च जाति के लोगों की सेवा कौन करेगा? हालाँकि यह भी सच है कि कई उच्च वर्ण के शिक्षकों ने विशेष प्रयास किया है ताकि निम्न जाति के लोग शिक्षित हो सकें, तथापि इस बात को समझने की ज़रूरत है कि दलितों व आदिवासियों को शिक्षित होने के लिए कई तरह के पूर्वाग्रहों व बाधाओं से जूझना पड़ा है। यहाँ हम एक दलित लेखक ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा ''जूठन'' (राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली; 2003) (उपरोक्त उद्धरण "जूठन" राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली; 2003 प्र. 14–16 से लिए गए हैं) और मध्यप्रदेश में किए गए एक अध्ययन "दलित आदिवासी और स्कूल" (समावेश, भोपाल; 2003) से कुछ उद्धरण दे रहे हैं :–

जूठन

घर में सभी कोई न कोई काम करते थे। फिर भी दो जून की रोटी ढंग से नहीं चल पाती थी। तगाओं (उच्च वर्ण) के घरों में साफ–सफाई से लेकर खेती–बाड़ी, मेहनत–मज़दूरी सभी काम होते थे। ऊपर रात–बेरात बेगार करनी पड़ती। बेगार के बदले में कोई पैसा या अनाज नहीं मिलता था। बेगार के लिए ना कहने की हिम्मत किसी में नहीं थी। गाली–गलोज, प्रताड़ना अलग....."

"अस्पृश्यता एक ऐसा माहौल कि कुत्ते–बिल्ली, गाय–भैंस, को छूना बुरा नहीं था लेकिन यदि चूहड़े (दलित) का स्पर्श हो जाए तो पाप लग जाता था। सामाजिक स्तर पर इन्सानी दर्जा नहीं था। वे सिर्फ ज़रूरत की वस्तु थे। काम पूरा होते ही उपयोग खतम...."

"कई दिन तक (पिताजी) स्कूल के चक्कर काटते रहे। उनके (प्रधानाध्यापक) अनुसार, स्कूल आना मेरी अनाधिकार चेष्टा थी।"

"एक रोज़ हेडमास्टर कलीराम ने अपने कमरे में बुलाकर पूछा, 'क्या नाम है बे तेरा?' "ओमप्रकाश" मैंने डरते–डरते धीमे स्वर में अपना नाम बताया। हेडमास्टर को देखते ही बच्चे सहम जाते थे। पूरे स्कूल में उनकी

दहशत थी।

"चूहड़े का है?" हेडमास्टर का दूसरा सवाल उछला।

'जी।'

"ठीक है.... वह जो सामने शीशम का पेड़ खड़ा है, उस पर चढ़ जा और टहनियाँ तोड़ के झाडू बणा ले। पत्तों वाली झाडू बणाना। और पूरे स्कूल कू ऐसा चमका दे जैसा सीसा। तेरा यो खानदानी काम है। जा....फटाफट लग जा काम पे।"

हेडमास्टर के आदेश पर मैंने स्कूल के कमरे, बरामदे साफ कर दिए। तभी वे खुद चलकर आए और बोले, 'इसके बाद मैदान भी साफ कर दे।'

लम्बा–चौड़ा मैदान मेरे वजूद से कई गुना बड़ा था। जिसे साफ करने से मेरी कमर दर्द करने लगी थी। धूल से चेहरा, सिर अँट गया था। मुँह के भीतर धूल घुस गई थी। मेरी कक्षा में बाकी बच्चे पढ़ रहे थे और मैं झाडू लगा रहा था। हेडमास्टर अपने कमरे में बैठे थे लेकिन निगाह मुझ पर टिकी थी। पानी पीने तक की इजाज़त नहीं थी। पूरा दिन मैं झाडू लगाता रहा। तमाम अनुभवों के बीच कभी इतना काम नहीं किया था। वैसे भी घर में भाइयों का मैं लाड़ला था।

दूसरे दिन स्कूल पहुँचा। जाते ही हेडमास्टर ने फिर झाडू के काम पर लगा दिया। पूरे दिन झाडू देता रहा। मन में एक तसल्ली थी कि कल से कक्षा में बैठ जाऊँगा।

तीसरे दिन मैं कक्षा में जाकर चुपचाप बैठ गया। थोड़ी देर बाद उनकी दहाड़ सुनाई पड़ी, उनकी दहाड़ सुनकर मैं थर–थर काँपने लगा था। एक त्यागी लड़के ने चिल्लाकर कहा, 'मास्साब, वो बैठो है कोणे में।' हेडमास्टर ने लपककर मेरी गर्दन दबोच ली थी। उनकी उँगलियों का दबाव मेरी गर्दन पर बढ़ रहा था। जैसे कोई भेड़िया बकरी के बच्चे को दबोचकर उठा लेता है। कक्षा से बाहर खींचकर उसने मुझे बरामदे में ला पटका। चीखकर बोले, 'जा लगा पूरे मैदान में झाडू नहीं तो....

भयभीत होकर मैंने तीन दिन वही पुरानी शीशम की झाडू उठा ली। मेरी तरह ही उसके पत्ते सूखकर झरने लगे थे। सिर्फ बची थीं पतली–पतली टहनियाँ। मेरी आँखों से आँसू बहने लगे थे। रोते–रोते मैदान में झाडू लगाने लगा। स्कूल के कमरों की खिड़की, दरवाज़ों से मास्टरों और लड़कों की आँखें छिपकर तमाशा देख रही थीं। मेरा रोम–रोम यातना की गहरी खाई में लगातार गिर रहा था।

लालबहादुर ओझा (सं) दलित आदिवासी और स्कूल समावेश भोपाल 2003

मध्य प्रदेश के दो जिलों की शालाओं में दलित–आदिवासियों की स्थिति के बारे में 1999–2000 में किए गए एक अध्ययन की रपट के कुछ अंश पढ़िए :–

स्कूल, समुदाय एवं नीतियाँ अवधारणा व वस्तुस्थिति

सामाजिक भेदभाव

दलित और आदिवासी बच्चों के सरकारी स्कूल में बड़ी संख्या में आगमन को ऊँची जाति के लोग सहानुभूति से नहीं देखते। हालाँकि साक्षरता अभियान जैसे कार्यक्रमों ने दलित, आदिवासी शिक्षा को वैधता दिलाई। जिसके कारण ऊँची जाति की प्रतिक्रियाएँ कम दिखती हैं। फिर भी कोरकू गाँव के एक ब्राह्मण पालक कहते मिले, "आदिवासी बच्चों के स्कूल में प्रवेश से स्कूलों का स्तर काफी गिर गया है। यदि मेरे पास विकल्प होता तो अपने बच्चे को दूसरे स्कूल में डालता। पर इस इलाके में सिर्फ एक ही स्कूल है।"

हरदा के सभी स्कूलों में और उज्जैन की वाल्मीकि बस्ती की सरकारी शाला (पारगंज) में जाति आधारित भेदभाव स्पष्ट रूप से दिखा। उच्च वर्ण के शिक्षकों और बच्चों द्वारा दलित और आदिवासी बच्चों को बेवजह

डाँटना और अपमानित करना आम बात है। एक खास मोहल्ले में बच्चों के स्कूल से भागने का प्रमुख कारण छुआछूत पाया गया। इन स्कूलों में मित्रता का प्रमुख आधार जाति है, एक ही जाति के बच्चे, कक्षा और उसके बाहर भी एक समूह में इकट्ठे रहते हैं

पाठ्येतर गतिविधियाँ केवल दो उच्च शालाओं में दिखीं। ऐसी गतिविधियों में भी हरदा की शाला में कक्षा की भेदभाव वाली दशा ही दोहराई जाती है। स्कूल परिसर और कक्षा की सफाई, चाय के बर्तन धोने जैसे काम आदिवासी दलित छात्रों को सौंपे जाते हैं। जबकि ऊँची जाति के छात्रों का जिम्मा कक्षा में ताला लगाना, शिक्षकों के लिए चाय तैयार करना, पानी पिलाना, आदि होता है। इस घोर जातिवादी समाज में पानी पिलाने जैसे काम विशेष मायने रखता है, दलित और आदिवासी बच्चों को पानी पिलाने का हक प्राप्त नहीं है।

आम तौर पर शिक्षकों का सरोकार चन्द तेज़ छात्रों से होता है। पूरी कक्षा को साथ लेकर चलना या उसे पठन–पाठन में शामिल करना, दुर्लभ दृश्य है। यह पाया गया कि दलित और आदिवासी छात्र कक्षा में सबसे पीछे चुपचाप बैठे रहते हैं। संयोग से किसी शिक्षक का ध्यान उधर जाता भी है तो केवल उनकी अयोग्यताओं को याद दिलाने के लिए।

वाल्मीकि और आदिवासी समुदाय से आए बच्चों की शैक्षिक क्षमता (एडुकैबिलिटी) पर ऊँची जाति के शिक्षक अक्सर सवाल उठाते पाए गए। शिक्षक मानकर चलते हैं कि वाल्मीकि व आदिवासी छात्र अयोग्य हैं, इनका मानसिक स्तर कम होता है। इस तर्क को वे न पढ़ाने के बहाने के तौर पर भी इस्तेमाल करते हैं। चिन्ता की बात यह है कि मूल्यांकन के परम्परागत तरीकों के अनुरूप कुछ छात्रों के अच्छे प्रदर्शन के बावजूद शिक्षक अपने रवैए पर कायम रहे हैं। इसका कारण शिक्षकों की सामाजिक पृष्ठभूमि है। स्कूल में भी वह इसलिए कायम रहता है क्योंकि वहाँ कोई समान्तर प्रतिरोधी मूल्य नहीं है।

उज्जैन के स्कूलों में हरदा की अपेक्षा जातीय भेदभाव कम हैं, हालाँकि वाल्मीकि बस्ती का सरकारी स्कूल इसका अपवाद है। उज्जैन के उच्च विद्यालय के बच्चों में अपनी जाति के बाहर दलित और गैर–दलितों से भी मित्रता है। बच्चे अपनी कथित जातीय विशेषताओं से अनजान हैं, शायद यह भी उनकी दोस्ती का कारण हो। इस अलग माहौल के कई दूसरे कारक भी हो सकते हैं। इस स्कूल की स्थापना दलित और आदिवासी बच्चों के लिए की गई थी, जिनके अभिभावक उज्जैन की कपड़ा मिलों में काम कर रहे थे। स्कूल की देखरेख मिल मालिक निजी तौर पर करते थे। सत्तर के दशक में यह स्कूल सरकार को इस शर्त पर सौंपा गया कि स्कूल के किसी भी शिक्षक या कर्मी को हटाया नहीं जाए। उनमें कुछ पुराने शिक्षक अभी भी काम कर रहे हैं। मिल में संगठित कार्यशैली और श्रमिक संगठन की उपस्थिति एक ऐसा सामाजिक माहौल रचती है जहाँ जाति और धर्म के भेदों की प्रासंगिकता कम हो जाती है। इस तरह स्कूल का विकास मिल के सामाजिक वातावरण में होना एक महत्वपूर्ण कारक है।

उच्च विद्यालय में पढ़ने वाले बच्चों की उम्र भी एक पक्ष है। इस उम्र के बच्चों पर प्रत्यक्ष भेदभाव स्वाभाविक रूप से कम हो जाता है। हालाँकि अभी भी कक्षा में इन समुदायों के बच्चों को कुछ मौकों पर 'हरिजन' कहकर सम्बोधित किया जाना चलन में है। (जी करता है छात्रवृत्ति नहीं लूँ।)

स्कूल की संस्कृति

आरक्षण के बावजूद, गिनती में ऊँची जाति की तुलना में दलित–आदिवासी शिक्षक कम हैं। शिक्षकों और सरकारी स्कूल में पढ़ने वाले छात्रों के सामाजिक परिवेश की बुनियादी विसंगति यही से शुरू होती है। शिक्षक दलित–आदिवासी समुदाय के बच्चों को पढ़ाने के प्रति असन्तोष जाहिर करते हैं। एक वाक्य जो अक्सर सुनने को मिलता है, "इन बच्चों में कोई संस्कार नहीं है।" यह असन्तोष सीधे इन बच्चों को नहीं नहाने, कंघी नहीं करने, साफ गणवेश नहीं पहनने आदि के लिए अक्सर दण्डित होना पड़ता है।

शिक्षकों की यह टिप्पणी छात्रों में "सांस्कृतिक पूँजी" के अभाव से जुड़ती है। सांस्कृतिक पूँजी की अवधारणा

को फ्राँसीसी समाजशास्त्री बूर्दो ने विकसित किया। जिसका मतलब ऊँची संस्कृति में संस्कारिक होना है। सामाजिक चतुराई, शालीन भाषा, शिष्टाचार और फैशन आदि इस पूँजी के अंग हैं। यही वह सांस्कृतिक पूँजी है जो प्रभुत्वशाली वर्ग के बच्चों को शैक्षणिक संस्थानों में विशेष दर्जा दिलाती है। भाषा का ही उदाहरण लें – चूंचड़ा की प्राथमिक और माध्यमिक शाला में भाषा को लेकर काफी परेशानी है। ऐसी दिक्कतें ज़्यादातर कोरकू बच्चों को होती हैं। क्योंकि कोरकू और हिन्दी में काफी अन्तर है। बच्चे इस स्कूली भाषा का उपयोग अपने घर में नहीं करते। इसके चलते वे कक्षा में बोलने से घबराते है। उनकी सम्प्रेषण क्षमता का विकास नहीं होता है, शैक्षणिक विकास रूक जाता है। कक्षा की भाषा को न समझ और बोल पाने से वे कक्षा से कटाव महसूस करते हैं। ऐसे बच्चों का अलग ही समूह बन जाता है।

इस तरह स्कूल की अपेक्षाओं के मापदण्ड और बच्चों के घर की स्थिति में गहरा फर्क है। स्कूल लगने का समय सभी स्कूलों में निर्धारित है। इसको बदलने का अधिकार स्कूलों को नहीं है (ई. जी. एस. शालाओं को छोड़कर)। यह समय, उन बच्चों व समुदाय की दिनचर्या से मेल खाता है या नहीं, जो स्कूल आ रहे है, इस पर ध्यान नहीं जाता ग्रामीण इलाकों में बच्चों को मवेशी चराने या खेत में मदद करनी पड़ती हैं। लड़कियों के ज़िम्मे घर के काम होते हैं। एक तरह से बच्चों के लिए घर के काम अनिवार्य हैं। स्कूल का शैक्षिक कैलेण्डर अगर समुदाय के अनुरूप हो तो स्कूल में बच्चों की भागीदारी बढ़ेगी इसमें कोई शंका नहीं। फसल कटाई के महीनों कक्षाएँ खाली रहती है। आदिवासी गाँवों में प्रवास करते हैं। यही समय स्कूलों में वार्षिक परीक्षा का भी होता है। चूंचड़ा के स्कूल न जाने वाले कुछ ऐसे बच्चे मिले जो प्रवास के कारण परीक्षा नहीं दे सके और स्कूल से बाहर हो गए।

इन समुदायों की सहूलियत के लिए स्कूली तंत्र ने अपने आपको किसी तरह से बदला है, यह नहीं दिखा। बच्चों को स्कूल आने के लिए प्रेरित करने वाले प्रयासों पर, ये जड़ता सवालिया निशान लगाती है। मामला बच्चों तक स्कूल की पहुँच का नहीं है, बल्कि उनके शैक्षिक, मानसिक और सर्वांगीण विकास से जुड़ा है। यह तभी सम्भव होगा जब स्कूली तंत्र बच्चों की आकांक्षाओं और उनकी यथार्थ स्थितियों के प्रति संवेदनशील होगा।

यहाँ भी छुआछूत!

संविधान का अनुच्छेद 17ः "अस्पृश्यता का अन्त किया जाता है और उसका किसी भी रूप से आचरण निषिद्ध किया जाता है।...."

भारतीय संविधान न केवल सभी तरह की छुआछुत की प्रवृत्ति को पूरी तरह से खत्म करने की बात करता है बल्कि सामाजिक रूप से दलित और वंचित लोगों के उत्थान के लिए सकारात्मक उपाय करने की सलाह भी देता है। साथ ही वह संस्थाओं के संवैधानिक आचरण के लिए आदर्श खाका निर्धारित करता है! परन्तु अनुभव यह है कि संस्थाएँ संविधान के आदेश का पालन करने में अक्षम रही हैं। यहाँ तक कि छुआछूत की हिंसक घटनाओं को सामान्य मानकर स्वीकार कर लिया जाता है! स्कूली परिवेश में जारी कुछ घटनाएँ गौर करने लायक है।

प्राथमिक शाला की नौ वर्षीय छात्रा कोयल अपना अनुभव सुनाती है, "स्कूल में लड़कियाँ मुझे मेहतरानी की छोरी कहती हैं, चिढ़ाती हैं और दूर बैठने को कहती है।" कोयल के साथ दोस्ती और टिफिन बाँटने की बात तो कल्पना से परे है, उसके हाथ से किसी बच्ची का खाना छू जाए तो वे उसे खाती नहीं, कुत्ते को डाल देती हैं। स्कूल की चपरासी उसे घड़े का पानी पीने से रोकती है। मैडम उसकी कॉपी नहीं छूतीं, फीस हाथ में नहीं लेती, टेबिल पर रखवाती हैं। इस तरह के व्यवहार से कोयल इतनी व्यथित है कि अब स्कूल ही नहीं आना चाहती। कोयल का कसूर है कि वह एक ऐसी जाति में पैदा हुई जिसका काम, साफ–सफाई करना है। और समाज में उस काम को निचले दर्जे का काम माना जाता है।

बुलबुल की कहानी भी कोयल जैसी है। वह तो स्कूल जाना छोड़ चुकी है। उसकी जाति भी वाल्मीकि है,

उसने अपने साथ हुए दुर्व्यवहार का प्रतिरोध किया। परन्तु शिक्षिका ने उसकी एक न सुनी। रो–धोकर वह घर वापस आ गई। उसके पिता स्कूल में हुए दुर्व्यवहार का गुस्सा हमारे ऊपर उतारते हैं, भज़रा स्कूल में जाकर देखो शिक्षक हमारे बच्चों के साथ कैसा व्यवहार करते हैं। चपरासी महाराज के बच्चे को ग्लास में भरकर पानी पिलाती है, हमारे बच्चों को घड़े के पास जाने नहीं देती। हमारे बच्चों को अछूत, मेहतर, गन्दा कहकर बुलाया जाता है।

बुलबुल के पिता यह शिकायत लेकर स्कूल के शिक्षकों से भी मिल चुके हैं! लेकिन शिक्षकों ने उनकी बात को अनसुना कर दिया। वे कहते है, "शिक्षक बच्चों को समझा नहीं सकते। वे समझाएँगे क्या खुद भी तो हमें नीच ही समझते हैं।" उनका अफसोस शिक्षकों के व्यवहार के प्रति भी है। उन्हें शिक्षकों से उम्मीद थी कि वे बच्चों की गैर बराबरी, और आपसी घृणा के भाव को कम करेंगे। लेकिन उनका रवैया भी भेदभाव का ही दिखता है। "कितनी मुश्किल से बच्चों को स्कूल भेजते हैं। स्कूल में जब ऐसा दोहरा व्यवहार होगा तो बच्चे वहाँ कैसे टिकेंगे? हमसे वे सवाल करते हैं।"

बड़ागाँव के एक मोहल्ले में पाँच वाल्मीकि परिवार हैं। किसी भी परिवार का बच्चा स्कूल नहीं जाता। कुछ बच्चों ने स्कूल जाना शुरू तो किया था, लेकिन जल्दी ही बन्द भी कर दिया। 18 वर्षीय राकेश ने स्कूल का अपना अनुभव सुनाया। स्कूल में एक दिन किसी बच्चे ने पखाना कर दिया। शिक्षक ने उसे पकड़कर साफ करने को कहा,राकेश को यह बात अपमानजनक लगी, "सर किसी और बच्चे से भी तो सफाई के लिए कह सकते थे।" उसने पखाना साफ करने से मना कर दिया। फिर क्या था – शिक्षक ने जमकर पिटाई की। राकेश ने घर लौटकर पूरी घटना अपने पिता को सुनाई। उसके पिता ने स्कूल जाकर शिक्षक से कहा "आप साफ–सफाई का काम हमसे करा लिया करो, बच्चों से न कराओ।" परन्तु शिक्षक के रवैये में बदलाव नहीं आया। राकेश बाद में भी शिक्षकों के लिए साफ–सफाई का पुश्तैनी काम करने वाली जाति मेहतरश का ही बेटा रहा। शिक्षक के इस रवैए से उबकर राकेश ने पढ़ाई छोड़ दी। निश्चित तौर पर उसके मन में स्कूल को लेकर अलग सपने रहे होंगे।

अक्सर ऐसा होता है कि एक सीमा के बाद प्रतिरोध, हार में बदल जाता है। बच्चे या तो स्कूल जाना बन्द कर देते हैं अथवा मन मारकर अपमान सहते रहते हैं। उमा के लिए उसकी माँ ने शिक्षका के साथ स्कूल में जमकर संघर्ष किया। अन्ततः हारकर उमा ने स्कूल जाना छोड़ दिया। वह अपने स्कूल के दिनों को इस तरह याद करती है, "मैडम ताना मारती थीं कि स्कूल में पता नहीं कहाँ से बलाई, चमार सब भर्ती हो गई हैं। आता–जाता कुछ नहीं चले आते हैं हमारा दिमाग खाने। पढ़ाई से इन्हें मतलब नहीं है, ये तो छात्रवृत्ति लेने के लिए आती हैं।"

स्कूल में मैडम का दूर–दूर रहना ताकि बच्चों से छू न जाएँ, सवाल पूछने पर फटकारना, उमा को अभी तक याद है। मैडम हमेशा कहती थीं, "बलाई, चमार के बच्चों पीछे बैठो।" कुछ पूछने पर ताना मिलता – झगड़ने आते हो यहाँ, समझाते वक्त ध्यान कहाँ था? आँख फूट गई है क्या? बहरे हो गए थे?

एक दिन उमा अपनी सहेलियों के साथ मिलकर प्रधानाध्यापक से शिक्षिका की शिकायत कर आई। मैडम को डाँट तो पड़ी, लेकिन उनकी आदत नहीं सुधरी। उल्टे उन्होंने शिकायत करने वाली लड़कियों की फिर से पिटाई कर दी। बात उमा की माँ तक पहुँची, तो वे स्कूल आईं और शिक्षकों पर जमकर बरसीं। लेकिन बात ढाक के तीन पात ही रही। रोज–रोज का ताना, अपमान और पिटाई सहने की बजाय लड़कियों ने स्कूल छोड़ने का निर्णय ले लिया।

स्कूल ऐसी जगह है जहाँ लोकतांत्रिक मूल्यों को विकसित किया जा सकता है, समाज के जातीय ढाँचे को चुनौती दी जा सकती है। बच्चों में किसी तरह का भेदभाव पनप रहा हो तो शिक्षक व समुदाय का यह दायित्व बनता है कि उसे खत्म करने की पहल करें। लेकिन शिक्षकों के व्यवहार भी अक्सर सामाजिक रूढ़ियों की तरफ झुके हुए लगते हैं। अलबत्ता ये स्थितियाँ स्कूल के इन नवागंतुकों में स्कूल के प्रति विकर्षण ही पैदा करती हैं।

कैसे पढ़ता मैं?

कोई उसे रामा कहता है तो कोई पटेल, ग्राहक बारीक कहते हैं और मालिक भाडू कहकर बुलाता है पर उसका नाम है रमेश। सरनेम उसे नही मालूम। क्षण भर भी फुर्सत में नहीं दिखता वह। कभी सिर पर बर्तन रखकर पानी ढोता नज़र आता है तो कभी ग्राहकों को चाय देते, गिलास धोते या बर्तन माँजते हुए।

बहुत व्यवस्थित है उसकी दिनचर्या। सुबह साढ़े छह बजे उठना, तैयार होना, चाय पीना और साढ़े सात बजे तक दुकान पर आ जाना। दोपहर एक बजे तक ग्राहकों की सेवा के बाद खाना खाने दौड़ गाँव जाना। खाने के बाद, पड़ोसी के यहाँ टीवी देखने जाना या न जाना।

यह कहानी है कुम्हार जाति के दस वर्षीय रमेश की। जब उसके बच्चे अच्छे कपड़े पहने कँधे पर बस्ता टाँगे स्कूल जा रहे होते हैं या अपनी माताओं के साथ स्कूल बस का इन्तजार कर रहे होते हैं, तब वह आँख मलते–मलते दौड़ते हुए बस स्टैण्ड स्थित दुकान की ओर चल पड़ता है। तेज़–तेज़ कदम उठाते हुए। अगर ग्राहकी शुरू हो गई तो भैया (मालिक) चिल्लाएँगें।

जिस दुकान में वह काम करता है वह वस्तुतः शासकीय भूमि पर अतिक्रमण कर बनाई गई एक झुग्गीनुमा संरचना है। लोहे की एक गुमठी के चारों ओर प्लास्टिक की चादर तानकर इसे तैयार किया गया है। गुमठी में खाने–पीने की सामग्री तैयार होती है तथा बाहर की बैंचों पर ग्राहक बैठते हैं और वही पर चाय का स्टोव है। गुमठी के बगल में पानी की एक टंकी है और तीन–चार मटके रखे हैं। रामा दिन भर पानी भरता रहता है या ग्राहकों को चाय–नाश्ता देता रहता है। पानी भरने और दुकान पर फैली रेतीली बजरी पर चलते रहने के कारण रामा के पाँव में बिवाइयाँ फट गई हैं।

पढ़ाई की बात शुरू करने पर वह कहता हैं, “मैं भी स्कूल जाता! पर क्या करूँ, मेरे बाप ने मेरे को होटल पर लगा दिया। अब यहाँ दिन भर काम करूँ कि स्कूल जाऊँ। स्कूल जाता तो पढ़–लिख सकता। हिसाब जोड़ लेता। पढ़ तो अब भी लेता हूँ पर मन–मन में, लिख नहीं सकता। सौ रूपए तक जोड़ भी लेता हूँ जैसे 10–10 रूपए के दस नोट 100 रूपए हो जाते हैं। लेकिन पाँच–छह हजार रूपए नही गिन सकता।”

उमर का अन्दाज़ लगाने का ज़िम्मा हमारे ऊपर छोड़कर वह अपनी कहानी सुनाता है, “पहले हम बावीं में रहते थे, सोनकच्छ के पास। मेरे पिता तीन भाई हैं। दो काका हैं मोहन और गुड़ला। एक बार मेरे काका मोहन ने एक आदमी को तेरह गुप्ती मार दी, पुलिस ने नब्बे हज़ार रूपए माँगे उसे छोड़ने के! हम क्या करते, अपना घर बेचकर पैसे दिए। फिर मेरे पिता, तपा चले गए, प्रकाशपुरा के पास। वहाँ गारा गूधंने (ईट बनाना) का काम किया। फिर नागदा गए और अब यहाँ आ गए, दौंड। विकास पटेल ने बुला लिया मेरे पिता को गारा गूंधने के लिए। छह हज़ार रुपए साल देते थे। मेरे पिता ने सब्जी बेचने का काम भी किया। मैं भी जाता था उनके साथ। बावी छोड़ते ही स्कूल छूट गया था। उसके बाद तो चार–पाँच गाँव में रहे हम, मैं कहाँ–कहाँ पढ़ता। एक गाँव में रहता तो पढ़ भी लेता। फिर सब्जी में घाटा हो गया तो रद्दी खरीदने लगे।”

थोड़ा रुककर वह अपने जीवन के दूसरे राज़ खोलता है, “मैं पहले स्कूल नहीं जाता था न, तो मेरे पिता ने मुझे होटल पर लगा दिया। मुझे यहाँ तीस रुपए मिलते हैं। शुरू–शुरू में पन्द्रह रुपए मिलते थे फिर बीस, फिर पच्चीस और अब तीस रूपये। थकान नही होती भैया। मैं घर पर भी क्या करूँ। मेरी यहाँ कोई पहचान भी नहीं है, किसके साथ खेलने जाऊँ। ये मेरी चौथी होटल है। फूल्या, बन्स्या, डमरू, संजू, परकास, सब मेरे बाद के हैं। जब मै आया था तब यहाँ इतनी होटलें थोड़ी थीं।”

फूलसिंह, बंशी, डमरू, संजू, प्रकाश आदि बच्चे भी रमेश की तरह मज़बूरी के मारे हैं और आसपास की होटलों पर काम करते हैं।

“नरेन्द्र भैया बहुत अच्छे हैं, कभी–कभी गलती हो जाए तभी डाँटते हैं, काम तो करना ही पड़ता है, मालिक मुफ्त में तो मज़दूरी देगा नहीं। फूल्या (उसका साथी) बदमाश है, मेरे को पटेल वो ही कहता है। न जाने क्या

समझता है अपने आप को। उसको न जाने कितने पैसे मिलते होंगे? मेरे को तो तीस रुपए रोज़ बता रहा था।'

हमने कहा, "हमें तो पैंतीस बता रहा था!"

"अच्छा!" वह अन्दाज़ लगाता है, "फूल्या खर्चे के पाँच रूपए भी बचा लेता होगा। मालिक अपने को सही तनख्वाह नहीं बताएगा उसकी।"

तनख्वाह जोड़ने–बताने में उसे मज़ा आ रहा था। "बीस रूपए के हिसाब से महीने के छह रूपए, पच्चीस रूपए से ...... अन्दाज़ लगाता है...... सात सौ पचास रूपए। 15 रूपए से पाँच सौ में 50 कम, और 30 से।" हँस देता है "नही आता यार भैया। स्कूल जाता तो भले ही हज़ार रूपए का हिसाब जोड़ देता, मुझे तो लिखना भी नही आता। क्या करें यार।" निस्पृह भाव आता है चेहरे पर।

तभी उसे स्कूल की बात याद आती है, "जब मैं स्कूल जाता था ना, तब भी मुझे लिखना नहीं आता था। मैं दूसरे से लिखवा लेता था। मेरे घर वाले पूछते, मास्साब पूछते तो वही बता देता। एक बार अँगूठा लगाना था तो मैंने दूसरे से लगवा लिया और फिर उस पर अपना अँगूठा लगा दिया। मास्साब ने टिकाई मेरे को डण्डी। खूब सूता (पीटा)" इस घटना को बताकर हँसने लगा। "स्कूल में अच्छा तो लगता था पर लिखना नहीं आता था मेरे को। बाद में तो हम तपा चले गए। पिताजी यहाँ–वहाँ घूमते रहे तो मैं कैसे पढ़ता।' दौड़ के अनौपचारिक स्कूल में क्यों नहीं जाते?

"होटल से फुर्सत मिले तो जाऊँ, इच्छा तो होती है स्कूल जाने की, पर काम पर लग गया हूँ, अब कैसे जाऊँ।' बेबसी ज़ाहिर करता है।

अपने स्कूली दिनों के साथ–साथ उसे घर की कठिनाइयाँ भी याद आने लगीं, "हमारे घर में कभी–कभी तो आटा भी नहीं रहता था, इसलिए काम करना पड़ा। हम घर में आठ सदस्य हैं। छह भाई–बहनों में मैं सबसे बड़ा हूँ। मैंने तो स्कूल छोड़ दिया। मेरी बहनें भी स्कूल नहीं जातीं। उन्हें स्कूल लेने–छोड़ने कौन जाए? अकेली कैसे जाएँ इतनी दूर?"

रमेश बहुत मासूम है। बात–बात पर मुस्कुराता है। जब सोचकर बोलता है तो लगता है जैसे स्मृति को खंगाल रहा हो, होटल की नौकरी ने जहाँ उसे बेबाक बात करना सिखाया है वहीं व्यावहारिकता की घुट्टी भी पिलाई है। अनपढ़ और पढ़े लिखे के अन्तर को वह इस तरह आँकता है, "पढ़ा लिखा आदमी लिख–पढ़ सकता है हज़ारो रूपए का हिसाब–किताब जोड़ लेता है। करोड़पति भी बन सकता है। कम पढ़ा लिखा तो क्या करेगा। ऐसे ही रहेगा और क्या।" वह मानता है कि पढ़ना ज़रूरी है पर उसका सवाल है कि भूखे पेट कोई पढ़े तो कैसे? वह समझता है कि बच्चों को जहाँ तक हो सके पढ़ना चाहिए।

आत्मविश्वास ने बदली पहचान

जाति एक सामाजिक प्रक्रिया के रूप में अलग–अलग बसाहटों की रचना करती है। एक जाति के लोग अक्सर समान भौगोलिक इलाकों में रहते हैं। इससे एक साँझा भौगोलिक इकाई और पहचान की रचना भी होती है। इन भौगोलिक इकाईयों में कोई भी व्यक्ति सफल होता है, किसी नए क्षेत्र में प्रवेश करता है, और उसकी इस गतिशीलता से उसकी भौतिक स्थिति में कोई सकारात्मक बदलाव आता है तो वह उस इकाई के बाकी लोगों के लिए अनुकरणीय हो जाता है। ऐसी सफलताओं से लोग सामूहिक आत्मविश्वास का अनुभव करते हैं, और प्रगति पथ पर चल पड़ते हैं।

मध्य प्रदेश के मालवा क्षेत्र की अनुसूचित जातियों में बैरवा जाति ऐसा ही एक उदाहरण है। बैरवा जाति मुख्यतः राजस्थान से पलायन करके मालवा में आई। यहाँ आकर उन्होंने कपड़ा मिल की मज़दूरी को आज़ीविका के रूप में अपनाया। अन्य दलित जातियों की अपेक्षा तेज़ी से विकास करने में इस नकद मज़दूरी का बड़ा हाथ रहा है।

आज शिक्षा, व्यापार, साहित्य, राजनीति, समाज सेवा, प्रशासन, संस्कृति आदि कोई भी क्षेत्र अछूता नहीं है, हर क्षेत्र में इस जाति का प्रतिनिधित्व हैं। उनके अपने स्कूल हैं, मन्दिर हैं, गैस एजेन्सी है, पेट्रोल पम्प है। "कालिदास सम्मान" प्राप्त कलाकार श्री प्रेम मनमौजी पूरे आत्मविश्वास के साथ कहते हैं "ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है जहाँ हम न हो।" अन्य दलित जातियाँ जहाँ अभी आरक्षण के सहारे उठने का प्रयास कर रही हैं, वहीं बैरवा जाति ने अपना स्तर काफी हद तक ऊपर उठा लिया है। इनकी इस आश्चर्यजनक उन्नति पर इतिहासविद् श्री श्यामसुन्दर निगम कहते हैं ''इतिहास में किसी अन्य जाति ने अपने आपको इतनी कम अवधि में इस कदर बदला हो, ऐसा उदाहरण दुर्लभ हैं समाज व्यवस्था के निचले पायदान से ऊपर उठकर इस जाति द्वारा अपने आपको सम्मानजनक स्थिति में ले आना, हैरत की बात है। यह जाति आरक्षण या अन्य शासकीय कृपा की मोहताज़ नही हैं।''

बैरवा जाति की मौजूदा सामाजिक उपलब्धियों का प्रमुख कारण है इस जाति का आत्मविश्वास। आज़ादी के पूर्व से ही इस जाति द्वारा अपने को आर्थिक और सामाजिक रूप से सक्षम बनाने के सामूहिक प्रयास किए गए। प्रोफेसर श्यामलाल वाल्मीकि ने अपनी पुस्तक 'अनटचेबल मूवमेंट इन इंडिया' में बैरवा जाति के संघर्ष का विस्तृत वर्णन किया। इस जाति के अखिल भारतीय संगठन 'बैरवा महासभा' की स्थापना सन् 1925 में ही हो गई थी। इस संगठन के माध्यम से इस जाति ने अपने परम्परागत धन्धों को त्यागा और भेदभाव एवं छुआछूत के खिलाफ संगठित लड़ाइयाँ लड़ी।

उज्जैन के वर्तमान महापौर मदनलाल ललावत इसी जाति के हैं। शहर में बैरवा जाति के व्यक्ति द्वारा स्थापित पहला स्कूल, मेघदूत पब्लिक स्कूल के श्री मोतीलाल मरमट के अनुसार "हमारी जाति की उन्नति का प्रमुख कारण हमारे समाज (जाति) के सफल लोग हैं, वे ही हमारे प्रेरणा स्रोत हैं। हमारी जाति का आदमी सोचता है कि जब एक भाई का बच्चा पढ़ सकता है, अच्छे पद पर पहुँच सकता है तो वह अपने बच्चों को क्यों नहीं पढ़ा सकता।"

श्री मरमट स्वयं एक मिल मज़दूर के बेटे हैं। वह अपनी संघर्ष कथा इस तरह सुनाते हैं, "हमारा परिवार बड़ा था और पिताजी की आमदनी कम। पिताजी ने परेशानी उठाकर भी मुझे पढ़ाया। घर छोटा था, इसलिए मैं नवीन छात्रावास में जाकर पढ़ता था। आठवीं तक आते–आते मैं ट्यूशन करके अपना खर्च स्वयं चलाने लगा। फिलहाल वे शिक्षा विभाग में लेखापाल हैं। उनका बेटा निजी स्कूल चलाता है।"

इसी जाति के गजराज लौदवाल राजमिस्त्री हैं। उनकी बीबी को एनीमिया है। बीमारी में ज़्यादा खर्च होने के कारण उनके बेटे नितिन का स्कूल छूट गया। लेकिन गजराज ने आस नहीं छोड़ी, वे कहते हैं, "मैं कहीं से भी पैसे की व्यवस्था करूँगा। पर नितिन को पढ़ाऊँगा ज़रूर। वह अभी स्कूल नही जा पा रहा है, यह देखकर मुझे बहुत तकलीफ होती है।" कुछ ऐसी ही परिस्थिति में दुर्गेश भी निजी स्कूल से बाहर हो गया, परन्तु उसके पिता योगेश निर्मल (फ्रिज मैकेनिक) ने अब उसकी फीस की रकम जमा कर ली है, ताकि अगले वर्ष से दुर्गेश अपनी पढ़ाई जारी रख सकें।

इस जाति में जबरदस्त आत्मविश्वास का कारण वे लोग हैं जो शिक्षा पाकर, उनके मोहल्ले के बीच से उभरकर सफल लोगों की गिनती में आ गए हैं। उन्हें देखकर जाति के अन्य लोग भी अपनी क्षमता के बारे में सन्देह नहीं रखते। उज्जैन में अन्य अनुसूचित जातियाँ अभी भी अपने मन से झिझक या हीनता पूरी तरह नहीं निकाल पाई हैं, वहीं बैरवा जाति के मामले में ऐसा नहीं है।

|||||||||

इकाई– 2
समाज में विविधता, असमानता व भेदभाव
भाग– 2

इस इकाई में हम आधुनिक समाज में वर्गभेद बाल मजदूरी जेण्डर असमानता आदि महत्वपूर्ण मुद्दों पर चर्चा करेंगे।

क– सामाजिक स्तरीकरण

पठन सामग्री क्र. 7
समाज में विषमताएँ एक परिचय

हम मनुष्य और मनुष्य के बीच विषमताओं के इतने आदी होते हैं कि हम भूल जाते हैं कि हर इन्सान चाहे वह पुरुष हो या महिला, विकलांग हो या पूर्णांग, गोरा हो या काला, अमरीका का हो या अफ्रीका का, जंगल में फल बटोरने वाली आदिवासी हो या कोका कोला कंपनी की सी ई ओ... सभी सैद्धान्तिक रूप से समान हैं। सबसे पहले तो हमें इन्सानियत का आधार समानता में देखना होगा और हर मनुष्य की समानता को समझना होगा। तभी हम अपने समाज में मौजूद असमानताओं को पहचान सकते हैं जिन्हें हम अपने रोजमर्रा जीवन में सहज ही स्वीकार कर चुके होते हैं।

लोग एक दूसरे से कई मायनों में असमान हो सकते हैं। ज़मीन जायदाद, आय, शिक्षा, निर्णय लेने के अधिकार, अकेले घूमने फिरने की स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा, शारीरिक क्षमता.... आप और भी ऐसी बातों को जोड़ सकते हैं। कोई अधिक सम्पत्ति वाला है, जिसके ज़मीन है, सिंचाई के साधन है या कल–कारखाने हैं व पूँजी है और उसके विपरीत किसी और के पास किसी प्रकार की सम्पत्ति नहीं है। किसी को वेतन में लाखों रुपए हर महीने मिलते हैं और किसी को कुछ ही सौ रुपए। इस तरह के अन्तर किसी को अमीर और किसी को ग़रीब बना देता है। इसे हम आर्थिक या सम्पत्ति व आय में असमानता कह सकते हैं।

एक और तरह की असमानता होती है। कोई किसी अच्छे कालेज में इंजिनीयरिंग पढ़कर फिर एम बी ए भी पास करके नौकरी करने के लिए तैयार हो जाता है – उसके सामने जीविका के और खासकरे ऊँचे वेतन वाले जीविका के अवसर बहुत अधिक हैं। इस व्यक्ति की तुलना में एक गरीब अनपढ़ व्यक्ति के सामने अपेक्षया कम अवसर होंगे और वे भी कम वेतन वाले अवसर होंगे। यह कहने के लिए उन दोनों के क्षमता में असमानता के कारण हैं – एक अनपढ़ है और दूसरा एम बी ए... लेकिन वास्तव में क्षमताओं में यह असमानता उनके आर्थिक व क्षेत्रीय असमानता के कारण बना है। यानी क्षमता पाने की क्षमता में असमानता है।

एक और असमानता है सत्ता का। सत्ता से हमारा तात्पर्य है अपनी बात दूसरों से मनवाने की क्षमता, दूसरों से अपने बात मनवाने का अधिकार। हालांकि अक्सर इसे हम राजनैतिक, प्रशासनिक या न्यायालयीन संदर्भ में ही देखते हैं, यह काफी व्यापक चीज़ है। पति का पत्नि पर वर्चस्व, घर के मुखिया के रूप में पिता का वर्चस्व, शाला में शिक्षक का वर्चस्व, किसी शहर या गाँव में सम्पत्तिवान लोगों का वर्चस्व, मोहल्ले में किसी गुण्डा या दादा का वर्चस्व, राष्ट्रीय मामलों में शासकीय नीतियों में दखल रखने का उद्योगपति व बैंकरों का वर्चस्व, ऐसे सत्ता के अनगिनत स्वरूपों को हम देख सकते हैं। जाहिर है कि इस तरह की सत्ता का वितरण असमान है। किसी के पास अपने खुद के निर्णय लेने या दूसरों को मनवाने का अधिकार बहुत कम होता है तो किसी और के पास बहुत अधिक।

हैसियत या प्रतिष्ठा की असमानता भी बहुत महत्वपूर्ण है। एक दलित महिला को समाज किस नज़र से देखता है, एक ब्राह्मण पुरुष को कैसे देखता है, यह हम सब जानते हैं। इसी तरह महानगर के एक शिक्षित व्यक्ति जिसे कोई ऊँचे तनख्वाह वाला शासकीय या निजी नौकरी प्राप्त है, उसे लोग किस नजर से देखते हैं, यह भी हम जानते हैं। एक सुदूर अंचल के आदिवासी एक कस्बे के बाबू, इनके बीच भी हैसियत की असमानता है। हैसियत कई बातों पर आधारित है, जिनमें से ज़्यादातर अन्य सामाजिक असमानताओं से जुडा है – सम्पत्ति, शिक्षा,

क्षेत्रीयता, आदि। लेकिन प्रतिष्ठा में असमानता अक्सर पैदाईश से भी जुड़ा है। अगर आप स्त्री हैं तो आपको किसी पुरुष से कम हैसियत प्राप्त होगी। अगर आप किसी खास जाति में पैदा हुए हों तो आपका अधिक सम्मान होगा। अगर आपके चमड़ी का रंग काला या साँवला है तो आपको अलग दृष्टि से देखा जाएगा। अगर आप किसी अल्पसंख्यक समुदाय के हों तो ...।

प्रतिष्ठा अपने आपमें महत्वपूर्ण है। सभी चाहेंगे कि उन्हें वही इज्जत मिले जो किसी और को मिलता है। लेकिन किसी न किसी रूप में प्रतिष्ठा आपके अवसरों को भी प्रभावित करता है, कहीं न कहीं आपके क्षमता व धन अर्जन तथा सत्ता पर भी प्रभाव डालता है।

सम्पत्ति या उत्पादन क्षमता तक पहुँच, सत्ता तथा हैसियत कई मायनों में एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। जो धनी हैं वे प्रायः अधिक सत्तावान होंगे, व जो प्रतिष्ठित हैं वे भी अधिक धनी व सत्तावान होते हैं। इसी प्रकार जो कम प्रतिष्ठित या गरीब हैं वे प्रायः सत्ताहीन जीवन जीने पर मजबूर होते हैं।

असमानता न केवल लोगों को प्राप्त अवसरों व प्रतिष्ठा को प्रभावित करता है बल्कि लोगों के आपसी रिश्तों को भी विकृत करता है। जिनके पास कम साधन है, या जिनके पास कम सत्ता है वे अपनी जीविका के लिए अधिक साधन या सत्ता वाले लोगों पर निर्भर हो जाते हैं और वे किसी न किसी रूप में अपने श्रम या उसका उत्पाद, अपनी सत्ता, तथा प्रतिष्ठा उन लोगों को देने के लिए मजबूर हो जाते हैं। यह लोगों के बीच शोषणात्मक रिश्ता कायम करता है। यानी ऐसा नहीं है कि सिर्फ एक के पास अधिक खाने को है और दूसरे के पास कम। इसका मतलब यह भी है कि दूसरे को अपने भोजन प्राप्त करने के लिए पहले आदमी की सेवा करनी होगी, और उसका दिया खाना होगा। इस बात को हर घर में पति पत्नि के रिश्ते में भी देख सकते हैं। पत्नि का काम पति की सेवा है और पति जो उपलब्ध करवाएगा उसी से पत्नि को स्वीकार करना होगा।

इसी तरह एक किसान को अपने पसीने का उत्पादन किसी जमींदार या साहूकार को लगान या सूद के रूप में देना पड़ता है या फिर पूँजीपति मजदूर के श्रम से उत्पन्न मूल्य का एक हिस्सा खुद रख लेता है...। एक तरफ यह एक सच्चाई है कि सब लोग सामूहिक रूप से ही उत्पादन कर सकते हैं व अपनी जीविका का अर्जन कर सकते हैं। लेकिन असमानता के कारण लोगों के बीच का यह रिश्ता समानता व आपसी सम्मान पर अधारित न होकर शोषण, अनादर, व आपसी संघर्ष पर आधारित हो जाता है।

जाहिर है कि इस व्यवस्था से कुछ लोगों को फायदा होता है। वे अपने पास उपलब्ध धन, सत्ता व हैसियत का उपयोग करके ऐसे ढाँचे तैयार करते हैं जिससे यह व्यवस्था बना रहे। इसके लिए वे अन्य लोगों के सामने वर्जनाओं का दीवार खड़ा करते हैं, जिसे पार करके उच्छ श्रेणी में प्रवेश करना बहुत कठिन या नामुमकिन हो जाता है। ये वर्जनाएँ किसी सार्वभौमिक सिद्धान्तों का हवाले देते हुए बनते हैं– जैसे जाति प्रथा में शुद्धता का सिद्धान्त, परिवार में पारिवारिक मूल्य या स्त्री की रक्षा, उच्च आय वाली नौकरियों में योग्यता का सिद्धान्त, सम्पत्ति के संदर्भ में निजी व वैयक्तिक स्वतंत्रता का सिद्धान्त....। इन सिद्धान्तों का उपयोग करते हुए कुछ लोगों को सामान्य अवसरों से वंचित रखा जाता है। जाति, परिवार, बाज़ार, शिक्षा, यह सब वर्जनाओं के दीवार खड़े करने में मददगार होते हैं।

।।।।।।।।।

पठन सामग्री क्र. 8
मार्क्स और वेबर

प्रस्तावना

कार्ल मार्क्स (1818–1881) की गिनती अब तक के सबसे महान दार्शनिकों में होती है। उनके विचारों ने लोगों, वर्गों और राष्ट्रों को प्रभावित किया है। समाज और सामाजिक प्रक्रियाओं को समझने में मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवादी सिद्धान्त का बड़ा योगदान है। इसने पारम्परिक दृष्टिकोणों का एक आमूल परिवर्तनवादी विकल्प विश्व के सामने प्रस्तुत किया। सामाजिक विकास को मार्क्स ने वर्ग द्वन्द्व के परिप्रेक्ष्य में समझने का प्रयास किया था। सामाजिक स्तरीकरण उनके विश्लेषण की धुरी थी। सामाजिक स्तरीकरण उनकी दृष्टि में एक ओर एकीकारी संरचना की बजाए विघटनात्मक है, मगर वहीं वह इसे सामाजिक विकास के लिए अपरिहार्य मानते हैं।

मैक्स वेबर (1864–1920) एक और अद्वितीय दार्शनिक रहे हैं। कार्ल मार्क्स की तरह वेबर ने भी बुनियादी आर्थिक पहलुओं के महत्त्व को माना था। मार्क्स ने अपना ध्यान मुख्य रूप से श्रमिक वर्गों पर लगाया और सामाजिक विकासों को उन्हीं की नज़र से देखा था। मगर वेबर ने अपने दर्शन में सामाजिक विकास में सम्पत्ति–सम्पन्न वर्गों की भूमिका को महत्व दिया था, इसीलिए वेबर को बुर्जुई मार्क्स कहा जाता है। इस इकाई में हम सामाजिक स्तरीकरण पर मार्क्स और वेबर के विचारों पर अलग–अलग चर्चा करेंगे। इसके बाद हम सामाजिक स्तरीकरण व्यवस्था को समझने में वर्ग के विश्लेषण के महत्व पर चर्चा करेंगे।

सामाजिक स्तरीकरण और मार्क्स

सामाजिक परिवर्तन को समझने और उसकी व्याख्या करने के लिए मार्क्स ने ऐतिहासिक भौतिकतावाद का सिद्धान्त अपनाया। उनके विचार में इतिहास का पहला प्रस्थान बिन्दु मानव का अस्तित्व में होना था। मानव समाज का भौतिक गठन और मनुष्यों का प्रकृति से सम्बन्ध विकास के महत्वपूर्ण द्योतक हैं। सभी प्राणी जीवित रहने के लिए प्रकृति पर निर्भर रहते हैं। पेड़ पौधे मिट्टी और पानी के लिए प्रकृति पर निर्भर रहते हैं, गाय घास के लिए प्रकृति पर आश्रित है तो शेर को जीवित रहने के लिए अन्य जन्तुओं को शिकार करना पड़ता है। जीवित रहने के लिए मनुष्य भी प्रकृति पर निर्भर रहता है। मगर मनुष्य और अन्य प्राणियों में यही बुनियादी अन्तर है कि वह अपने जीवन के लिए प्रकृति का कायापलट कर सकता है। मगर अन्य प्राणियों को प्रकृति के अनुकूल ढलना पड़ता है। गाय घास खाती है मगर उसे उगा नहीं सकती। इधर मनुष्य प्रकृति का दोहन तो करता है मगर उसमें इसकी कायापलट की शक्ति भी होती है। इसका सीधा–सा मतलब यह है कि मनुष्य में अपनी आज़ीविका के साधन उत्पन्न करने की क्षमता होती है। मार्क्स इसलिए अपनी पुस्तक "जर्मन आइडियोलजी" में कहते हैं, "मनुष्य को उसकी चेतना, धर्म या किसी भी चीज़ से पशुओं से अलग किया जा सकता है। मनुष्य जैसे ही अपने जीवन–निर्वाह के साधन उत्पन्न करने लगता है वह अपने आपको पशुओं से अलग करके देखने लगता है। यह चरण उसकी शारीरिक स्थिति निर्धारित करता है। जीवन–निर्वाह के वास्तविक साधन उत्पन्न करके मनुष्य परोक्ष रूप से अपने वास्तविक भौतिक जीवन का सृजन करता है।" इसी उत्पादन के ज़रिए ही मनुष्य का विकास हुआ। आदिम मनुष्य पूरी तरह से प्रकृति पर ही निर्भर था। इसका कारण यह था कि उसका जीवन–निर्वाह शिकार या भोजन संग्रहण से ही होता था। ये आदिम समाज जीवित रहने के लिए अपनी न्यूनतम ज़रूरतें पूरी कर पाते थे। मनुष्य ने प्रकृति को अपने उपयोग के लिए रूपान्तरण करना शुरू किया तो मानव समाज में लोगों के निर्वाह के लिए अधिक उत्पन्न करने की क्षमता आई।

श्रम का विभाजन

प्रौद्योगिकी या टेक्नोलॉजी के विकास के ज़रिए मनुष्य ने कृषि को उन्नत किया और इससे उसने स्थाई रूप से बसे समुदायों का निर्माण किया। उत्पादन के बढ़ने पर ये समुदाय अपनी आवश्यकताओं से अधिक उत्पन्न करने लगे। इस बेशी उत्पादन के फलस्वरूप उन लोगों का निर्वाह करना सम्भव हो गया जो भोजन के उत्पादन से जुड़े नहीं थे। आरम्भिक समाजों में सभी लोग एक प्रकार के क्रिया–कलापों में लगे रहते थे जो उनके अस्तित्व के लिए ज़रूरी थे। जैसे रोटी, कपड़ा और मकान। बेशी उत्पादन से अब अन्य लोगों ने भोजन उत्पन्न किया जो सभी के भरण–पोषण के लए पर्याप्त था तो अन्य लोग दूसरी गतिविधियों में लग गए। इसे श्रम का विभाजन कहा गया।

इस व्यवस्था के फलस्वरूप कुछ लोगों ने अन्य लोगों की इस प्रक्रिया से अलग छिटककर उत्पादन के साधनों पर अधिकार जमा लिया। इस तरह जो सम्पत्ति अभी तक सभी के सामूहिक स्वामित्व में थी वह चंद लोगों के हाथों में चली गई जिससे निजी सम्पत्ति की धारणा उत्पन्न हुई। इसके बाद सभी लोगों के हित साँझे नहीं रहे। हितों में अब तरह–तरह के अन्तर आ गए। इस प्रकार व्यक्तियों के निजी हित सामुदायिक हितों से बिलकुल भिन्न हो गए। मार्क्स कहते हैं, ''श्रम का विभाजन और निजी सम्पत्ति समरूप अभिव्यक्तियाँ हैं। इसका निजी और सामूहिक हितों में अन्तर्विरोध था।''

मानव समाज में निजी सम्पत्ति के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली विषमता से वर्गों का निर्माण होता है। यही वर्ग सामाजिक स्तरीकरण का आधार बनते हैं। सभी स्तरित समाजों में मोटे तौर पर प्रायः दो समूह मिलते हैंः शासक वर्ग और शासित वर्ग। इसके फलस्वरूप इन दोनों वर्गों के बीच अपने–अपने हितों को लेकर बुनियादी द्वन्द्व उत्पन्न होता है। अपनी अन्य प्रसिद्ध कृति "कंट्रीब्यूशंस ऑफ द क्रिटीक ऑफ पॉलिटिकल इकोनॉमी" में मार्क्स कहते हैं कि समाज की विभिन्न संस्थाएँ जैसे कानूनी और राजनीतिक व्यवस्थाएँ, धर्म इत्यादि असल में शासक वर्ग के वर्चस्व का माध्यम हैं और ये उसके हितों को साधने का काम करती हैं। आइए अब यह जाने कि 'वर्ग' का क्या मतलब है।

वर्ग का तात्पर्य

मार्क्स ने स्तरीकरण की सभी प्रणालियों में दो मुख्य स्तरों के लिए वर्ग शब्द का प्रयोग किया है। जैसा कि हमने पीछे उल्लेख किया है, सभी स्तरित समाजों में मुख्यतः दो बड़े सामाजिक समूह होते हैं एक शासक वर्ग और दूसरा शासित वर्ग। शासक वर्ग को शक्ति या सत्ताधिकार उत्पादन के साधनों पर अधिकार करने से हासिल होता है। इस तरह वह अन्य वर्गों के श्रम के फल को हथिया लेने में सक्षम रहता है। "द एटीन्थ ब्रुमेयर ऑफ लुई बोनापार्ट" में मार्क्स वर्ग का वर्णन इस प्रकर करते हैं, "जब लाखों लोग 'अस्तित्वभर आर्थिक दशा' में जी रहे हों, जो उनकी जीवन शैली, उनके हित और संस्कृति को अन्य वर्गों के लोगों से अलग करती हो और उन्हें इन वर्गों के द्वेषपूर्ण विरोध में ला खड़ा करती हो, तो ऐसे लोग एक वर्ग बन जाते हैं।"

अभ्यास – 1

अपने परिचित लोगों से वर्ग के अभिप्राय पर चर्चा कीजिए। इसमें आपको वर्ग की जो व्याख्याएँ जानने को मिलती है उन्हें नोट कर लीजिए। अब इन व्याख्याओं की तुलना मार्क्स की वर्ग अवधारणा से कीजिए।

मार्क्स के अनुसार स्तरीकरण की व्यवस्था उत्पादन की शक्तियों से सामाजिक समूहों के सम्बन्धों से उत्पन्न होती है। मार्क्स ने वर्ग शब्द का प्रयोग स्तरीकरण की सभी पद्धतियों में मुख्य स्तरों के लिए किया था। वर्ग की उन्होंने जो परिभाषा दी है, उसकी अपनी कुछ विशेषताएँ हैं। इस परिभाषा के अनुसार वर्ग में दो मुख्य समूह होते हैं जिनमें से एक उत्पादन के साधनों पर अधिकार किए रहता है। सामाजिक अर्थव्यवस्था में इसे विशिष्ट दर्जा हासिल होने के कारण यह वर्ग अन्य वर्ग के श्रम के फल को हथिया लेता है। इस प्रकार वर्ग एक सामाजिक समूह है, जिसके सदस्यों का उत्पादन शक्तियों से एक साँझा सम्बन्ध होता है। यह दरअसल एक वर्ग को दूसरे

वर्ग से अलग करता है।

मार्क्स की इस परिभाषा से हमें वर्ग का एक और पहलू यह दिखाई देता है कि वर्ग एक दूसरे के विरोध में खड़े होते हैं। मगर साथ–साथ वर्गों में परस्पर निर्भरता का सम्बन्ध भी होता है। अगर एक वर्ग उत्पादन के साधनों पर अपने अधिकार के बूते दूसरे वर्ग के श्रम को हथिया सकता है तो इसका यही मतलब है कि दोनों वर्ग एक दूसरे पर निर्भर तो हैं ही, मगर वहीं वे परस्पर विरोधी भी हैं। वर्गों के बीच यह संम्बन्ध एक परिवर्तनकारी सम्बन्ध है जिसकी परिणति सामाजिक परिवर्तन में होती है। यही कारण है कि मार्क्स की दृष्टि में वर्ग ही सामाजिक कायापलट की धुरी है। कम्युनिस्ट मैनिफेस्टों में मार्क्स लिखते हैं, ''अभी तक, सभी समाजों का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है।'' दूसरी तरह से कहें, तो मानव जाति के इतिहास में वर्गों के संघर्ष के कारण परिवर्तन आते हैं। इसलिए वर्ग द्वन्द्व सामाजिक बदलाव का इंजन हैं।

बोध प्रश्न – 1

1. श्रम के विभाजन के बारे में मार्क्स के क्या विचार हैं? पाँच पंक्तियों में बताइए।
2. मार्क्स के अनुसार वर्ग का क्या मतलब है? पाँच पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

वर्ग का विकास

समाज का विकास वर्ग संघर्ष की प्रक्रिया के ज़रिए होता है। एक वर्ग का किसी अन्य वर्ग पर प्रभुत्व होने के कारण ही वर्ग द्वन्द्व उत्पन्न होता है। इसके साथ–साथ प्रौद्योगिकी में आने वाले परिवर्तनों के कारण उत्पादन की प्रक्रिया भी विकसित होती है, जिसके फलस्वरूप वह उन्नत होती जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि वर्गीय ढाँचे में परिवर्तन आ जाता है क्योंकि उत्पादन तकनीकों में वृद्धि होने के कारण मौजूदा वर्ग अपनी प्रासंगिकता खो देते हैं। इससे नए वर्गों की रचना होती है जो पुराने वर्गों का स्थान ले लेते हैं। इससे वर्ग संघर्ष और बढ़ता है। मार्क्स के मतानुसार पश्चिमी समाजों का विकास मुख्यतः चार चरणों में हुआ – आदिम साम्यवाद, प्राचीन समाज, सामँतवादी समाज और पूंजीवादी समाज। आदिम साम्यवाद के चरण के प्रतिनिधि प्रागैतिहासिक समाज है, शिकार और भोजन संग्रहण पर निर्भर करते हैं और जिनमें श्रम का कोई विभाजन मौजूद नहीं है। इस चरण के बाद सभी समाज मुख्यतः दो वर्गों में बँटे होते हैं। प्राचीन समाज में ये स्वामी और दास, सामन्तवाद समाज में ये ज़मींदार और कृषिदास (काश्तकार) और पूँजीवादी समाज में ये पूँजीवादी और वैतनिक श्रमिक हैं। प्रत्येक युग में उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम शक्ति की पूर्ति शासित वर्ग यानी दास, कृषिदास और वैतनिक श्रमिक वर्ग ही करता था।

परस्पर विरोधी समूहों में वर्गों का ध्रुवीकरण वर्गीय चेतना का परिणाम है। यह एक अलग मगर वर्ग से ही जुड़ा प्रसंग है। वर्गीय चेतना अनिवार्यतः वर्ग–रचना का परिणाम नहीं होती। वर्गीय चेतना का सम्बन्ध वर्गों के ध्रुवीकरण की प्रक्रिया से है। अपने वर्गीय हितों के जाने बगैर भी एक वर्ग अस्तित्व में हो सकता है।

किसी खास समूह के लोग, जिसकी सदस्यता उत्पादन के ऐसे सम्बन्धों से तय होती है जिनमें या तो वे जन्म लेते हैं या स्वेच्छा से प्रवेश करते हैं, जब वे एक विशिष्ट या भिन्न समूह के रूप में अपने अस्तित्व के बारे में सजग हो जाते हैं तो उन्हें अपने वर्ग के प्रति चैतन्य माना जाता है। उदाहरण के लिए, मज़दूर अपनी मज़दूरी बढ़ाने के लिए बराबर संघर्षरत रहते हैं जो उनके हित में है। ये हित पूँजीवादी समाज के आर्थिक सम्बन्धों के परिणाम हैं। ये हित वस्तुनिष्ठ रूप से विद्यमान होते हैं, जिसका यह अर्थ है कि इन हितों को कोई सिद्धान्त राजनैतिक दल, मज़दूर, संघ या इस तरह की कोई बाहरी शक्ति ईज़ाद नहीं करती है। मगर इन वस्तुनिष्ठ स्थितियों का विद्यमान रहना ही पर्याप्त नहीं होता। कामगारों को इन स्थितियों के बारे में जागरूक होना चाहिए।

“एटीन्थ ब्रुमेयर ऑफ लुई बोनापार्ट” के निष्कर्ष में मार्क्स वर्ग निर्माण की महत्ता का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि एक वर्ग तभी अपने अस्तित्व के प्रति सचेत होता है, जब अन्य वर्ग से अपने विरोध के प्रति जागरूक हो।

अपने सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ "दास कैपिटल" में मार्क्स कहते हैं कि अगर श्रमिकों को उनके हाल पर छोड़ दिया जाए तो हो सकता है कि वे इस बात से अनभिज्ञ रहें कि उनके वर्गीय हित अन्य वर्ग (पूँजीवादी वर्ग) के हितों के प्रतिकूल हैं। उन्होंने कहा है कि पूँजीवादी उत्पादन में उन्नति एक ऐसा श्रमिक वर्ग खड़ा करती है जो अपनी शिक्षा, परम्परा और स्वभाव से उत्पादन की स्थितियों को प्रकृति के स्वयंसिद्ध नियमों के रूप में देखता है। यानी वह उन्हें स्वाभाविक, प्रकृति–सम्मत मानता है। साधारण स्थितियों में श्रमिक को स्वयंसिद्ध नियमों के रूप में उत्पादन के प्राकृतिक नियमों के हवाले किया जा सकता है। वर्ग चेतना के विकसित होने पर वर्ग सम्बन्धों की यह गतिहीन प्रकृति एक गतिशील और परिवर्तनकारी स्वरूप धारण कर लेती है। वर्ग चेतना के बिना श्रमिक वर्ग पूँजी के सम्बन्ध में श्रमिक वर्ग बन के रह जाता है। यह अपने–आप में एक वर्ग मात्र है। "द पॉवर्टी ऑफ फिलॉसफी" में मार्क्स कहते हैं कि जो श्रमिक वर्ग इस स्थिति में रहता हो वह व्यक्तियों का एक समूह मात्र है और अपने–आप में एक वर्ग है। यह जब अपने संघर्ष में पूँजीवादी के खिलाफ संगठित हो जाता है तो यह "अपने लिए एक वर्ग का स्वरूप धारण कर लेता है। जिन हितों की यह रक्षा करता है वे इस वर्ग के हित बन जाते हैं।"

मार्क्सवादी ढाँचे में इस प्रकार हम वर्ग को एक गतिशील, परिवर्तनकारी इकाई के रूप में पाते हैं। प्रौद्यागिकी में उन्नति के साथ–साथ इसके स्वरूप में भी बदलाव आ सकता है, मगर इसकी रचना का आधार वही रहता है। वर्ग किसी भी समाज में स्तरीकरण पद्धति का मुख्य आधार है। वर्ग का सीधा सम्बन्ध हर समाज में प्रचलित उत्पादन प्रक्रिया से है। वर्गीय ढाँचे में बदलाव उत्पादन प्रक्रिया में बदलाव होने से आता है। इस प्रकार समाज में स्तरीकरण की व्यवस्था उत्पादन सम्बन्धों पर निर्भर होती हैं।

सामाजिक स्तरीकरण और वेबर

जैसा कि हमने शुरू में ज़िक्र किया है, मैक्स वेबर को समाजशास्त्र के संस्थापकों के रूप में जाना जाता है। वे समाज के मार्क्सवादी सिद्धान्त के सबसे शक्तिशाली विकल्प के जनक माने जाते हैं। इकाई के इस भाग में हम वर्ग और सामाजिक स्तरीकरण के अन्य स्वरूपों पर उनके विचारों के बारे में चर्चा करेंगे। मार्क्स की तरह वेबर का भी मानना था कि वर्ग ही समाज में स्तरीकरण का बुनियादी रूप है। उन्होंने वर्ग की व्याख्या मार्क्सवादी कसौटी मुख्यतः सम्पत्ति के स्वामित्व के रूप में की। उनके अनुसार इसकी बुनियादी श्रेणियाँ हैं। उन्होंने सम्पत्ति–स्वामित्व और उत्पादों व सेवाओं की स्वामित्वहीनता के जितने प्रकार होते है, उनमें भेद दर्शाया। जो लोग सम्पत्ति के स्वामी होते हैं वे उत्पादन या वस्तुएँ देते हैं, लेकिन जिन लोगों के पास कोई संपत्ति नहीं होती वे सिर्फ अपनी श्रम शक्ति या प्रवीणता ही पेश कर सकते हैं। इस प्रकार कारखाने का मालिक अपने कारखाने में बनने वाले माल की पेशकश कर सकता है मगर दूसरी ओर उसके मज़दूर पारिश्रमिक के बदले में सिर्फ अपनी श्रमशक्ति ही दे सकते हैं।

वर्ग और जीवन–अवसर

वेबर ने वर्ग के एक अन्य पहलू को महत्व दिया है। वह है जीवन–अवसर। इस शब्द का अर्थ उन अवसरों से है जो किसी व्यक्ति (स्त्री या पुरूष) को अपने जीवन के विभिन्न चरणों में मिलते हैं। एक श्रमिक के परिवार में जन्म लेने वाले व्यक्ति को एक खास किस्म की शिक्षा मिलती है, जो उसे विशिष्ट कार्य के लिए सक्षम बनाती है। यह शिक्षा उतनी महँगी या गहरी नहीं होगी जो उच्च वर्गीय परिवार में जन्में बच्चे को मिलती है। इसलिए रोज़गार के अवसर दोनों के लिए एक दूसरे से अलग–अलग होंगे। उनकी भिन्न पारिवारिक पृष्ठभूमि भी उन्हें भिन्न वर्गों का हिस्सा बनाती है। ठीक यही पैटर्न हमें उनके सामाजिक व्यवहार और विवाह में मिलता है। श्रमिक वर्ग की पृष्ठभूमि का व्यक्ति अधिकतर अपने वर्ग के अन्य सदस्यों से ही परस्पर व्यवहार करता है, जबकि उच्च मध्यम वर्ग की पृष्ठभूमि वाले व्यक्ति के परिचित, मित्र अपने वर्ग के ही लोग होंगे। इस प्रकार वेबर के अनुसार जीवन–अवसर वर्ग निर्माण का एक महत्वपूर्ण पहलू है।

जीवन–अवसरों का विवेचन करते समय वेबर ने व्यक्ति की बजाए समूह या समुदाय पर बल दिया था। उनका कहना था कि वर्ग का निर्धारण करते समय हमें समूह के जीवन–अवसरों को देखना होगा न कि समूह के भीतर अलग–अलग व्यक्तियों के जीवन अवसरों। को एक समूह के रूप में वर्ग का यह अति महत्त्वपूर्ण पहलू है। यह सम्भव है कि एक व्यक्ति के जीवन–अवसर दूसरों से बिलकुल भिन्न हों। उदाहरण के लिए, किसी कामगार का बच्चा अपने वर्ग के अवरोधों को पार कर सकता है। उसे बेहतर शिक्षा और ऐसा रोज़गार मिल सकता है जो उसके संगी–साथियों को प्राप्त अवसरों से भिन्न हो।

एक उद्योगपति का बेटा अपनी योग्यता या अन्य स्थितियों के चलते श्रमिक बन सकता है। मगर ऐसा अपवाद स्वरूप ही होता है। उनके विचार में महत्त्वपूर्ण बात यह है कि एक ही वर्ग के सदस्यों के लिए जीवन–अवसर समान होते हैं। यही उस वर्ग को स्थायित्व प्रदान करता है क्योंकि आगे की पीढ़ी के अनुसार जीवन–अवसरों की परिभाषा उपलब्ध आर्थिक और सांस्कृतिक वस्तुओं को आपस में बाँटना है, जो भिन्न समूहों को भिन्न–भिन्न तरीके से सुलभ हैं।

किसी व्यक्ति के सुलभ होने वाले जीवन–अवसर मोटे तौर पर बाज़ार–स्थिति से तय होते हैं। एक श्रमिक का बेटा श्रमिक ही बनता है क्योंकि उसकी पृष्ठभूमि के अनुसार यही उसके लिए सबसे उपयुक्त विकल्प है। सम्पत्तिहीन लोगों के लिए बाज़ार–स्थिति और महत्त्वपूर्ण हो जाती है क्योंकि उन्हें मुख्यतः सेवाओं के उत्पादन पर ही निर्भर रहना पड़ता है जिसका कारण यह है कि उनके पास सिर्फ अपनी प्रवीणता होती है, अपने अस्तित्व के लिए उनके पास अपनी प्रवीणता को बेचने के अलावा कुछ भी नहीं होता। मगर वही सम्पत्ति के स्वामी अपनी उत्पादक सम्पत्ति से होने वाली आमदनी पर आश्रित रह सकते हैं।

इस प्रकार वेबर के अनुसार वर्ग के दो बुनियादी पहलू हैं। पहला यह एक वस्तुगत श्रेणी है। उत्पादक सम्पत्ति पर सदस्यों के अधिकार एक विशेष वर्ग के सभी सदस्यों को समान जीवन–अवसरों से अलग करते है। व्यक्तियों के जीवन–अवसर उन लोगों के लिए बाज़ार–स्थिति पर निर्भर करते हैं जो उत्पादक सम्पत्ति के स्वामी नहीं हैं। जिन लोगों के पास ऐसी सम्पत्ति है उनके जीवन–अवसर उत्पादकता के स्वामित्व से तय होते हैं।

अपनी इस परिभाषा के आधार पर वेबर ने पूँजीवादी समाज को चार वर्गों में बाँटा है। ये इस प्रकार हैं –

1. उच्च वर्ग, जिसमें वे लोग आते हैं, जिनके स्वामित्व या अधिकार में उत्पादक संपत्ति है। यह वर्ग मार्क्स के बुर्जुवा (पूँजीवादी वर्ग) के समान हैं।
2. सफेदपोश श्रमिक (व्हाइट कॉलर वर्कर्स) इस वर्ग में मानसिक श्रम करने वाले लोग शामिल हैं प्रबन्धक, प्रशासक, पेशेवर (प्रोफेशनल) इत्यादि लोग।
3. टुटपुँजिया या छोटा बुर्जुवाः इस वर्ग में स्वरोज़गार में लगे लोग आते हैं जैसे दुकानदार छोटे व्यापारी, डॉक्टर, वकील इत्यादि।
4. शारीरिक श्रमिकों का वर्ग – ये लोग दिहाड़ी या वेतन के बदले में अपना शारीरिक श्रम बेचते हैं। श्रमिक वर्ग को वेबर ने इसी वर्ग में शामिल किया है।

इस प्रकार वेबर ने मार्क्स के दो वर्गीय मॉडल के विपरीत समाज को चार वर्गों में विभाजित किया। हालाँकि वेबर ने वर्ग संरचना का जो आधार ढूँढा वह मार्क्स के जैसा ही था, मगर समाज में वर्गों के प्रकार को लेकर उनका नज़रिया मार्क्स से भिन्न था।

स्थिति या हैसियत

मार्क्स की तरह वेबर ने भी वर्ग और वर्ग चेतना में भेद किया था। जैसा कि हमने पीछे बताया है, मार्क्स के लिए वर्ग चेतना वर्ग का एक महत्वपूर्ण पहलू था। कोई वर्ग अगर यह जानता है कि वह एक विशिष्ट वर्ग है तो वह अपने हितों की पैरवी कर सकता हैं। वेबर ने भी वर्ग चेतना की बात तो की है मगर वह वर्ग के अस्तित्व

के लिए इसे ज़रूरी नहीं मानते। बल्कि इसकी बजाय वह वर्ग चेतना का विकल्प प्रस्थिति या हैसियत (स्टेटस) में ढूँढते हैं। वेबर का मानना था कि एक व्यक्ति की वर्ग–स्थिति ज़रूरी नहीं कि उसकी वर्ग चेतना बनाए मगर वह अपनी हैसियत, अपनी प्रस्थिति के बारे में पहले से चेतन रहता है।

अभ्यास–2

अपने अध्ययन केन्द्र में सहपाठियों से चर्चा कीजिए कि प्रस्थिति/हैसियत का क्या मतलब है। क्या प्रस्थिति पर उनकी धारणाएँ वेबर के दृष्टिकोण से मेल खाती हैं? अपनी जानाकारी को नोटबुक में दर्ज कर लीजिए।

वेबर के अनुसार वर्गों की रचना आर्थिक सम्बन्धों के आधार पर होती है, उनके अनुसार प्रस्थिति (स्टेटस) समूह साधारणतया 'समुदाय' होते हैं। वेबर ने प्रस्थिति को समाज में व्यक्ति को हासिल स्थिति के रूप में की है जो 'प्रतिष्ठा' के सामाजिक मूल्यांकन से निर्धारित होती है। वर्ग और हैसियत परस्पर जुड़े होते हैं मगर कई स्थितियों में ये एक–दूसरे के विरोध में जा खड़े होते हैं। वर्ग का सम्बन्ध वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन या उनके अर्जन से है। हैसियत या स्थिति उपभोग से तय होती है। इस प्रकार हैसियत का सम्बन्ध जीवन–शैली से है, जिसमें सामाजिक सहवास पर अंकुश लगे हों। वेबर का कहना था कि सबसे कठोर और सुपरिभाषित प्रस्थितिगत सीमाएँ हम भारत की वर्ण–व्यवस्था में देख सकते हैं। एक ब्राह्मण का सम्बन्ध श्रमिक वर्ग से हो सकता है, क्योंकि यह उसकी आजीविका का माध्यम है। मगर वहीं वह अपने आपको छोटी जाति के व्यक्ति से श्रेष्ठ समझता है। हालाँकि दोनों की वर्ग–स्थिति समान होगी। यही नहीं इस ब्राह्मण श्रमिक का अपने से उच्च वर्ग के ब्राह्मणों से सामाजिक व्यवहार काफी ज़्यादा हो सकता है। भारतीय समाज में अन्तरजातीय विवाह को स्वीकार नहीं किया जाता है। हालाँकि दोनों परिवार एक वर्ग के होंगे मगर वर्ण क्रम–परम्परा में उनकी हैसियत एक–दूसरे से भिन्न होगी।

वेबर के अनुसार एक स्तरित समाज में सम्पत्ति में अन्तर वर्गों को जन्म देते हैं, वहीं प्रतिष्ठा सम्बन्धी भेद प्रस्थिति समूहों को जन्म देते हैं। इस प्रकार सामाजिक स्तरीकरण के मुख्य दो आधार हैं।

मार्क्स और वेबर में समानताएँ और अन्तर

उपरोक्त चर्चा से हमें स्पष्ट हो जाता है कि समाजशास्त्र के इन दोनों धुरन्धर विद्वानों के सामाजिक स्तरीकरण के मत में कुछ समानताएँ हैं, मगर वहीं दोनों में बड़े मतभेद भी हैं। मार्क्स के लिए सामाजिक स्तरीकरण का आधार वर्ग है। वर्ग की रचना इस अर्थ में वस्तुनिष्ठ होती है कि वर्ग का निर्माण महज इसलिए नहीं हो जाता है कि लोगों का एक समूह इकट्ठा होकर वर्ग बनाने का फैसला कर लेता है, बल्कि वर्ग का निर्माण समाज में प्रचलित उत्पादन सम्बन्धों के कारण होता है। इसलिए वर्गीय ढाँचे में किसी व्यक्ति को प्राप्त स्थान उत्पादन सम्बन्धों में उसकी स्थिति पर आधारित होता है। अगर उसके पास पूँजी है या वह पूँजी पर अधिकार रखता है और दूसरे लोगों से काम लेता है तो वह पूँजीवादी है। जिन लोगों के पास सम्पत्ति नहीं होती वे उसके विरोधी श्रमिक वर्ग की रचना करते हैं। मार्क्स के विश्लेषण का महत्वपूर्ण पहलू वर्गों का परस्पर विरोध है। इसी विरोध के फलस्वरूप ही सामाजिक और आर्थिक बदलाव होता है। श्रमिकों के जवाब में पूँजीवादी नित नई तरकीबें ढूँढ निकालते हैं। जैसे वे नई प्रौद्योगिकी ला सकते हैं जिसके फलस्वरूप उत्पादन तकनीक उन्नत हो जाती है। या श्रमिकों को शक्तिशाली बनने से रोकने के लिए वे नए कानून ला सकते हैं। मगर श्रमिक भी अपने संघर्ष में उतना ही अधिक संगठित रहते हैं। वे जब देखते हैं कि उनका मुख्य शत्रु कोई अन्य वर्ग का है तो वे आपसी मतभेद भुला देते हैं। इससे उनमें व्यापक एकता आती है। इस प्रकार मार्क्स के मत में वर्ग और वर्ग–चेतना समाज की श्रेणियाँ मात्र नहीं हैं। ये सामाजिक विकास की बुनियाद हैं।

एक स्तर पर वेबर भी मार्क्स की वर्गीय धारणा से सहमति रखते हैं मगर ऐसा वह मार्क्स का समर्थन करने के लिए नहीं बल्कि उनके मत की कमज़ोरियाँ निकालने के लिए करते हैं। वह ज़ोर देकर कहते हैं कि समाज

को सिर्फ दो मुख्य वर्गों में विभाजित नहीं किया जा सकता है, बल्कि समाज इनसे ज़्यादा वर्गों में बँटा होता है जिनका उदय बाज़ार स्थिति और व्यक्ति द्वारा किए जाने वाले कार्य की किस्म से होता है। इसलिए उनके अनुसार समाज में मुख्य चार वर्ग होते हैं। उनके अनुसार इससे वर्ग सम्बन्धों को लेकर भ्रम की स्थिति पैदा होती है। इसलिए वेबर कहते हैं कि न तो वर्ग और न ही वर्ग चेतना सामाजिक स्तरीकरण की पूर्ण व्याख्या कर सकते हैं। अतः वह प्रस्थिति या हैसियत (स्टेटस) सभी वर्गों की दूरी को मिटा देती है।

दोनों दार्शनिकों की तुलना करते समय हमें ध्यान रखना चाहिए कि वेबर मार्क्स के विचारो के विरोधी थे। उन्होंने मार्क्स का विकल्प देने का प्रयास किया। सो दोनों दार्शनिकों की तुलना नहीं की जा सकती, क्योंकि वेबर का कार्य मार्क्स के कार्य का पूरक, उसकी कड़ी नहीं है। वेबर ने अपने सिद्धान्त को मुख्यतः मार्क्स के विरोध में गढ़ा था। इसलिए दोनों में कुछ समानताएँ तो हैं मगर उनका आधार एक दूसरे से भिन्न है।

बोध प्रश्न– 2

1. वर्गों और जीवन अवसरों के बारे में वेबर ने क्या विचार रखे थे? पाँच पंक्तियों में उत्तर दीजिए।
2. सामाजिक स्तरीकरण को लेकर वेबर और मार्क्स के दृष्टिकोण में क्या–क्या समानताएँ और अन्तर हैं? दस पंक्तियों में बताइए।

सारांश

इस इकाई में हमने सामाजिक स्तरीकरण पर समाजशास्त्र के दो संस्थापकों कार्ल मार्क्स और मैक्स वेबर के दृष्टिकोणों पर चर्चा की। दोनों दार्शनिकों के विचारों ने मानव विकास को बेहद प्रभावित किया है। कार्ल मार्क्स के विचार उनके ऐतिहासिक भौतिकतावाद पर आधारित थे। उन्होंने सामाजिक स्तरीकरण ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखा। उनके अनुसार मानव समाज में होने वाले परिवर्तनों का आधार उत्पादन का बदलता स्वरूप है। वर्ग समाज में स्तरीकरण व्यवस्था का आधार है। उत्पादन सम्बन्धों के बदलने पर स्तरीकरण का स्वरूप भी बदल जाता है। इस तरह नए वर्गों की जगह ले ली। इसके फलस्वरूप वर्गों के बीच नए सम्बन्ध भी बने। इसलिए मार्क्स की दृष्टि में वर्ग और स्तरीकरण समरूप हैं। मार्क्स ने वर्ग–चेतना की भूमिका को वर्ग हितों की साधना के लिए महत्वपूर्ण माना है।

दूसरी ओर मैक्स वेबर ने वर्गों के निर्माण को अधिक महत्व दिया। उनके विचार में भी वर्ग का आधार वही था जो मार्क्स ने माना था। मगर वहीं उनका मानना था कि समाज दो की बजाए चार वर्गो में बँटा होता हैं। वेबर और मार्क्स में यह मतभेद यहीं नहीं हैं। वेबर ने सामाजिक स्तरीकरण की व्याख्या के मुख्य आधार के रूप में वर्ग विश्लेषण की कमियों को बताने का प्रयास भी किया। उनका मानना था कि वर्ग से अधिक महत्त्वपूर्ण प्रस्थिति (स्टेटस) होती है। उनका यह तर्क था कि लोग वर्ग–चैतन्य की बजाए प्रस्थिति–चैतन्य अधिक होते हैं। इसलिए उनका विचार था कि हालाँकि वर्ग एक वस्तुनिष्ठ श्रेणी है मगर सामाजिक स्तरीकरण को हम प्रस्थिति/हैसियत की कसौटी पर बेहतर समझ सकते हैं।

शब्दावली

वर्ग – मार्क्स के अनुसार वर्ग लोगों का समूह है जो उत्पादन साधनों पर अपने अधिकार या स्वामित्व या उसकी कमी के कारण एक–दूसरे से भिन्न होते हैं। मगर वेबर के अनुसार वर्ग लोगों का समूह है जो उत्पादन स्वामित्व या अधिकार के चलते एक दूसरे से अलग होते हैं और जिन्हें समान जीवन–अवसर प्राप्त होते हैं।

वर्ग– एक वर्ग में यह चेतना कि सामाजिक क्रम–परम्परा में उसकी विशिष्ट जगह है।

प्रस्थिति/हैसियत सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रभावशाली दावा। वेबर ने यह सिद्ध करने की कोशिश की कि प्रस्थिति/हैसियत वर्ग अवरोधों को पार कर लेती हैं।

|||||||||

पठन सामग्री– 9

आर्थिक समानता और शिक्षा

कहा से लिया गया –
Adapted from Meighan Siraj Blatchford, Educational Life Chances, Who Gets What? Pp.

ब्रिटेन में शिक्षा और सामाजिक वर्ग के आपस के रिश्ते को समझने के लिए बहुत सारे अध्ययन किए गए हैं। हमें बहुत पहले से अर्थात 1930 में दिखाई दिया कि गरीब परिवार के बच्चे भी बुद्धिमता परीक्षण में आगे हैं, इसके बावजूद वे ग्रामर स्कूल में प्रवेश नहीं पाते थे तथा उनका स्कूली परिणाम भी अच्छा नहीं होता था। (ग्रामर स्कूल हमारे यहाँ के उच्चतर माध्यमिक शालाओं के समकक्ष होते हैं, जिसके बाद महाविद्ययालयों में प्रवेश मिलता है) यद्यपि बुद्धिमता परीक्षण का महत्व अब नहीं रहा और ग्रामर स्कूल भी अब कम हो गए हैं। कई दशकों से विश्वविद्ययालयों में विद्यर्थियों की संख्या में इजाफा हुआ है, किन्तु असमानता और सामाजिक वर्ग का प्रभाव अभी भी बना हुआ है। श्रमिक वर्ग के बच्चों को हर स्तर पर बराबर का मौका नहीं मिलता है।

आम तौर पर जो बच्चे उच्च आथिक वर्ग के होते हैं, उनके पास शिक्षा पाने के मौके निम्न सामाजिक वर्ग के बच्चों की तुलना में काफी अधिक होते हैं।

शैक्षिक जीवन में मौके और सामाजिक वर्ग–

ब्रिटेन के अध्ययनों से पता चलता है कि जिन बच्चों के अभिभावक डॉक्टर, वकील, अध्यापक और प्रबंधकीय व्यवसाय में होते हैं, उनके ग्रामर स्कूल में प्रवेश लेने के अधिक अवसर होते हैं, बनिस्बत उनकी तुलना में जिन बच्चों के अभिभावक अकुशल व्यवसाय में होते हैं। इसी तरह ग्रामर स्कूलों में (सेकेण्डरी स्कूल) प्रवेश पाने वाले बच्चों के पास विश्वविद्यालय में प्रवेश पाने के ज़्यादा अवसर होते हैं, उन बच्चों की तुलना में जो व्यवसायिक विद्यालयों में प्रवेश लेते हैं। आगे हम यह भी कह सकते हैं कि जो पालक उच्च शिक्षा के संस्थानों में ज़्यादा समय बिता पाए हैं, उनके बच्चे भी शिक्षण संस्थानों में ज़्यादा समय तक रहते हैं और उच्च शिक्षा प्राप्त करते हैं। उच्च वर्ग के लोग कुल जनसंख्या का केवल 35 प्रतिशत हैं– मगर विश्वविद्यालयों में प्रवेश पाने वाले 80 प्रतिशत इनके बच्चे होते हैं। इसके विपरीत श्रमिक वर्ग जनसंख्या में 65 प्रतिशत है, और विश्वविद्यालयों में इस निम्न श्रेणी के बच्चें केवल 19 प्रतिशत हैं। यह भी देखा गया है कि उच्च वर्ग के लोगों के 93 प्रतिशत बच्चे कोई न कोई व्यवसायिक कुआलिफिकेशन ले पाते है। लेकिन श्रमिक पालकों के केवल 40 प्रतिशत बच्चे कोई भी व्यवसायिक कुआलिफिकेशन पाते हैं।

इस असमानता के बारे में कई लोगों ने चर्चा की है कि क्यों कुछ वर्ग के बच्चे स्कूलों में अच्छा प्रदर्शन करते हैं? कुछ मनोवैज्ञानिक व्याख्याएँ कहती है कि मध्यम वर्ग के बच्चे आनुवांशिक रुप से उच्च होते हैं। और ये वह अपने अभिभावक से वंशानुगत प्राप्त करते हैं। लेकिन इस समझ में कई समस्याएँ हैं–

इस धारणा के पीछे शारीरिक रचना, और बुद्धि व व्यक्ति के व्यवहार के आपसी सम्बन्धों के बारे में कई पूर्वाग्रह हैं। "काले" लोग व महिलाओं के संदर्भ में भी यह कहा जाता था कि वे कम बुद्धिमान होते हैं। लेकिन शोधों से यह स्थापित हो गया है कि ये धारणाएँ गलत हैं। लेकिन फिर भी गरीबों के संदर्भ में अभी भी यह तर्क दिया जा रहा है।

इच्छाशक्ति के मनोविज्ञान में यह बहस की गई है कि निम्न सामाजिक स्तर से आने वाले बच्चों को पर्याप्त

इच्छा नहीं होती जिससे वे स्कूलों में सफल हो सकें। लेकिन समाजशास्त्रियों का कहना है कि शैक्षिक संस्थान कुछ इस तरह से बनाए जाते हैं कि वे निम्न सामाजिक वर्ग के बच्चों को सफलता से दूर रखते है तथा दूसरी ओर मध्यम वर्ग के बच्चों को आगे बढ़ने में मदद करते है।

मैकेनिन का कहना है कि मध्यम वर्ग के बच्चों की शिक्षा में अच्छा प्रदर्शन करने की प्रवृत्ति सिर्फ एक शुरूआत है। इसे ज़्यादा गहराई में समझना आवश्यक है। यह देखा गया है कि शैक्षिक सफलता का सम्बन्ध सामाजिक वर्ग से है परन्तु ये सम्बन्ध पूरी तरह से सटीक नहीं है, यह सिर्फ कुछ हद तक ही स्थिति को समझा सकते है पूरी तरह नहीं। इसलिए इसकी समझ बनाने के लिए बुद्धिमत्ता, अभिभावकों की सोच (अभिवृत्ति) आदि तत्वों को भी ध्यान में रखना जरुरी है। आगे यह भी देखा जाएगा कि अभिभावकों की अभिवृत्ति और सामाजिक वर्ग में ही एक सम्बन्ध है। ये पाया गया है कि मध्यम वर्ग के बच्चे, जो बच्चे बुद्धिमत्ता परीक्षण में अच्छा प्रदर्शन करते है और वो बच्चे जिनके अभिभावकों का शिक्षा के प्रति सोच सकारात्मक होता है, वे ज़्यादातर एक ही हैं। इसलिए सामाजिक वर्ग और शैक्षिक उपलब्धि के बीच का कारण–प्रभाव इंगित करना जटिल हो जाता है।

कुछ समाजशास्त्री कहते हैं कि बच्चे अपने सामाजिक वर्ग की संस्कृति को स्कूल में लेकर आते हैं। इसलिए अलग–अलग सामाजिक वर्गों के बच्चों की भाषाई, अनुभवों, व्यवहार, प्रवृत्ति, विचारों, मूल्यों और कौशलों में अन्तर होता है। स्कूलों के संदर्भ में जब ये अलग–अलग अनुभव आंके जाते हैं तो ये मध्यवर्गीय परिवारों और मोहल्लों में पले बढ़े बच्चों को जीवन के बेहतर मौके पाने के लिए लाभ पहुँचाते हैं।

बर्नस्टाइन ने मध्य वर्ग तथा श्रमिक वर्ग के बच्चों और परिवारों के अलग–अलग भाषाई कोड की पहचान की। इन को "डॉमिनेटेड" और "डॉमिनेटिंग" वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। बर्नस्टाइन ने पाँच साल के बच्चों को कुछ तस्वीर दी और कहा कि इनका वर्णन करो। आप उनके वर्णन में भिन्नता नीचे देख सकते हैं–

डॉमिनेटिंग कोड (मध्यम वर्ग के बच्चे)–

तीन लड़के फूटबाल खेल रहे हैं और एक बच्चा फूटबाल पर लात मारता है और वह खिड़की के पार चली जाती है। गेंद खिड़की तोड़ देती है और लड़के उसे देख रहे होते हैं और एक आदमी बाहर आता है और उन पर चिल्लाता है, क्योंकि उन्होंने खिड़की तोड़ी है इसलिए वे भाग जाते हैं फिर एक महिला खिड़की से बाहर देखती है और वो लड़कों को भगा देती है।

डॉमिनेटेड कोड (श्रमिक वर्ग के बच्चे)–

वे फूटबाल खेल रहे हैं और वह बॉल को लात मारता है और वह वहाँ जाती है और खिड़की तोड़ देती है और वे उसकी ओर देखते हैं और वह बाहर आता है और उन पर चिल्लाता है, और उन्होंने उसे तोड़ दिया है, वे भाग जाते हैं और फिर वो बाहर देखती है और उन्हें भगा देती है।

उपरोक्त दोनों वर्णन को पढ़कर बताए कि–

1. किस वर्णन से पता चलता है कि चित्र में कितने बच्चे हैं?
2. किस वर्णन से पता चलता है कि बच्चों को डाँटने वाली वयस्क है?

अगर हमारे पास चित्र होता तो हम दूसरे वर्णन को ठीक से समझ सकते थे; श्रमिक वर्ग के बच्चे की भाषा 'सन्दर्भ पर निर्भर' (कॉनटेक्स्ट डीपेन्डेन्ट) हैं। बर्नस्टाइन कहते है कि श्रमिक वर्ग के बच्चे "कथन और परिस्थितियों" (स्पीच और सिचुवेशन) के बीच के इस अलग से सम्बन्ध को मानकर चलते हैं। हमारी कक्षा की परिस्थितियों में डॉमीनेटिंग कोड का ज्यादा इस्तेमाल होता है और शिक्षक भी इसी प्रकार की भाषा की अपेक्षा करता है। इस कारण श्रमिक वर्ग के बच्चे ज्यादा नुकसान में रहते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि डॉमिनेटेड कोड मानक भाषा से किसी निचले स्तर का है। इस सम्बन्ध में लैबोब ने यह सिद्ध किया कि डॉमिनेटेड कोड अमूर्त अवधारणाओं (एब्स्ट्रेक्ट) से सम्पन्न होता है। लैबोब का सुझाव है कि जैसे हम बच्चे से अपेक्षा करते हैं कि वह अपनी भाषा को स्कूल की भाषा के अनुरूप बनाए उसी तरह हम यह भी आसानी से अपेक्षा कर सकते हैं

कि स्कूल अपनी भाषा को बच्चे की भाषा के अनुरूप बनाए।

कुछ और समाजशास्त्रीय अध्ययनों में यह देखा गया कि अलग–अलग विकास खण्डों या क्षेत्रों में उपलब्ध संसाधनों में क्या अन्तर है। जिन इलाकों में शिक्षक, भवन व अन्य सुविधाओं पर व्यय ज्यादा हुआ है, उससे उस इलाके के बच्चों की शैक्षणिक सफलता पर प्रभाव पड़ा है। यह लगता है कि किसी क्षेत्र विशेष में उपलब्ध विभिन्न प्रकार के संसाधनों के अनुसार जीवन अवसर बेहतर होते हैं। हालांकि कई लोग यह तर्क देते हैं कि शैक्षिक उपलब्धियों और नवाचारों का शिक्षा पर हो रहे व्यय के स्तर से सीधा सम्बन्ध इतना भी प्रमाणित नहीं है और इसके लिए वे लीड्स क्षेत्र में हुए एक अध्ययन का हवाला देते हैं।

सामाजिक शोधों ने कोई अंतिम फैसला नहीं दिया है। आनुवांशिक कारणों का सिद्धान्त सबसे ज्यादा सन्देहास्पद साबित हुआ है। जो सिद्धान्त भाषा या संस्कृति, आर्थिक वंचना एवं संसाधनों की उपलब्धि आदि पर आधारित है, उसमें कुछ बातें तार्किक लगती है। एक अकेले तर्क को निश्चित करने की बजाय ऐसी व्याख्या जिसमें अलग–अलग कारण आपस में जुड़े हुए हों शायद स्थिति को बेहतर समझा सके। कई आर्थिक कारणों के साथ–साथ ब्रिटेन के संदर्भ में कई विशेष स्थितियाँ भी महत्वपूर्ण हो जाती हैं। जैसे यह भी कहा जा रहा है कि एकल अभिभावकों के बच्चे विशेषतौर पर जोखिम में होते हैं क्योंकि उनमें से अधिकांश लोग गरीबी में जीते हैं।

चिह्नांकन सिद्धान्त (लेबलिंग थ्यौरी) का योगदान–

जैसे कि हम अपने जेण्डर के अस्तित्व को लड़के और लड़की के रुप में जान लेते हैं वैसे ही हम हमारा सामाजिक वर्ग की पहचान भी सीख लेते हैं। बच्चे के सामाजिक वर्गीकरण का प्रभाव 'आदर्श विद्यार्थी' को परिभाषित करने से सम्बंधित होता है। शैक्षणिक व्यवस्था "आदर्श विद्यार्थी" को एक खास तरीके से परिभाषित करती है। बेकर ने शिक्षकों से बातचीत करके यह देखा कि उनकी 'आदर्श विद्यार्थी' की परिभाषा क्या–क्या है– पढ़ाई में रुचि लेना, मेहनत से स्कूल में काम करना, घर में इस प्रकार की तैयारी होना की वे स्कूल में जल्दी व तेजी से काम कर लें आदि। एक "आदर्श विद्यार्थी" की छवि में और भी नैतिक गुण शामिल थे जैसे साफ–सुथरा रहना, स्वस्थ रहना, अच्छे कपड़े पहनना, उनके व्यवहार में शालीनता एवं धैर्य होना आदि। शिक्षक कक्षा में जो विधियाँ अपनाते हैं वह सिर्फ ऐसे बच्चों के लिए उपयोगी रहती है। यह विधि केवल उन बच्चों के लिए कारगर है, जो "आदर्श विद्यार्थी" की सीमा के अन्दर हैं किन्तु यह उनके लिए कारगर नहीं है जो बच्चे इस सीमा के बाहर हैं।

योग्यता के आधार पर व्यवहारः

बहुत सी परिस्थिति में बच्चे "उच्च" और "निम्न" योग्यता के आधार पर शिक्षकों द्वारा चिह्नांकित किए जाते हैं। यह दिखाया गया है कि बच्चों को जैसे चिह्नांकित किया जाता है उसी के आधार पर वे प्रदर्शन करते हैं। यदि बच्चा उच्च योग्यता वाला माना गया है, तो वह उसी के आधार पर कक्षा में प्रदर्शन करता है। वैसे ही यदि वह निम्न योग्यता वाला बच्चा माना जाता है तो उसका प्रदर्शन इसी दिशा में होता है।

कक्षा में चिह्नांकन की प्रक्रिया के अलावा सामाजिक संदर्भ में भी चिह्नांकन किया जाता है। अध्यापक बच्चे का चिह्नांकन,. बच्चे अच्छे घर' से आते हैं या नहीं, के आधार पर करते हैं। यह माना जाता है कि जो बच्चे "अच्छे" घर से आते हैं वे शिक्षक के "आदर्श विद्यार्थी" की कल्पना के ज़्यादा पास होते हैं। किन्तु गुडग्रेस का अध्ययन यह साबित करता है कि शिक्षक की इस धारणा और बच्चों के वास्तविक प्रदर्शन के बीच कोई साम्य नहीं होता। जब मानक मूल्यांकन पद्धति से बच्चों की जांच की गई तो देखा गया कि श्रमिक वर्ग के बच्चों ने शिक्षकों की उम्मीद से ज़्यादा अच्छा प्रदर्शन किया। इस तरह यह सामान्य निष्कर्ष निकाला जा सकता है की शिक्षक के त्रुटिपूर्ण निदान का बच्चे के भविष्य पर नकारात्मक असर पड़ता है।

इस संदर्भ में बर्नस्टाईन का कहना है कि शिक्षा व्यवस्था द्वारा इस तरह का गलत निदान (डाइग्नोसिस)

उपयोग में लाया जाता है ताकि गरीब बच्चों के बारे में जो छवि है, उसे बनाए रखा जा सके। परीक्षा ऐसी ली जाती है कि गरीब बच्चा उसमें पास न हो सके।

माता–पिता का चिह्नांकन–

चिह्नांकन कई तरीकों से हो सकता है। हमारे संदर्भ में वर्गीकरण निम्न बिन्दुओं से होता है– जैसे– स्त्री पुरुष, जातीय पृष्ठभूमि, बोली जाने वाली भाषा, धार्मिक विश्वास, शारीरिक क्षमताएँ, संज्ञानात्मक उपलब्धि, कक्षा में व्यवहार आदि। ये चिह्नांकन शिक्षक के मन में बनी "आदर्श विद्यार्थी" की धारणा की तुलना में रखे जाते हैं। इस तरह के वर्गीकरणों को बनाने के लिए शिक्षक को जानकारी चाहिए होती है जो कि वह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष तरीकों से एकत्र करता है। उदाहरण के लिए शिक्षक विद्यार्थी के नाम से उसकी जाति/धर्म का पता लगा सकते हैं। परन्तु वर्ग जानने के लिए विद्यार्थी के माता–पिता का व्यवसाय जानने की जरुरत होती है। ऐसी जानकारी "अच्छे" माता–पिता को परिभाषित करने के काम में ली जाती है।

ये माना जाता है कि "अच्छे" माता–पिता अपने बच्चों को घर में मार्गदर्शन देते हैं ताकि वे साफ–सुथरा रहे, ध्यान से पढ़े, शालीन और मृदु भाषी रहे– पर वे बच्चों को सीधे तौर पर पढ़ाते नहीं हैं जो कि शिक्षक का काम है। शार्प और ग्रीन ने यह दिखाया कि जिन माता–पिताओं के बच्चे स्कूल में सफल होते हैं व अच्छा प्रदर्शन करते हैं वे "अच्छे" माता पिता की छवि को साकार नहीं करते क्योंकि वे घर में बच्चों को अपनी तरह से पढ़ाते हैं। इस तरह उनके बच्चे "आदर्श विद्यार्थी" की कुछ अपेक्षाओं को पूरा कर पाते हैं–क्योंकि वे स्कूल में तेजी से कार्य करते हैं और तैयारी के साथ अच्छा प्रदर्शन देते हैं। उनके माता–पिता "अच्छे माता–पिता" होने का एक हद तक देखावा कर लेते है– जिसमें यह भी जरूरी है कि वे घर में बच्चों को पढ़ा कर शिक्षक के काम में दखलअन्दाजी न जताएँ!

निहितार्थ–

साधारणतया यह कहा जाता है कि विद्यालय मध्यवर्ग की संस्था होती है। पर यह एक अतिसरलीकृत कथन है "आदर्श विद्यार्थी" और "अच्छे माता–पिता" इन दोनों अवधारणा के प्रयोग से इस बात की सम्भावना बढ़ जाती है कि कामकाजी परिवार के बच्चों की तुलना में मध्यमवर्गीय परिवार के बच्चे उन छवियों के लक्षणों को ज़्यादा प्रदर्शित कर सकेंगे। इससे यह सम्भावना नगण्य नहीं हो जाती की कामकाजी परिवार के कुछ बच्चे व माता–पिता "आदर्श छात्र" और "अच्छे मात–पिता" की छवि पर खरे उतरे और न ही यह सम्भावना नगण्य होती है कि कोई मध्यमवर्गीय छात्र व माता–पिता "बुरे छात्र" व "बुरे माता–पिता" करार कर दिए जाएँ। चिह्नांकन के सिद्धान्त से हम स्कूल, छात्र, सामाजिक वर्ग व अन्य विशेषताओं के बीच के जटिल सम्बन्धों को टटोल सकते हैं।

निष्कर्ष–

पाँच अवस्थाएँ जिसके द्वारा बच्चों का वर्गीकरण किया जाता है–

1. शिक्षक कुछ विद्यार्थियों से विशेष व्यवहार और उपलब्धियों की अपेक्षा करते हैं।
2. इन अपेक्षाओं के कारण ही शिक्षक विद्यार्थियों से अलग–अलग व्यवहार करता है।
3. शिक्षक के व्यवहार से विद्यार्थी को पता चलता है कि किस तरह के व्यवहार और उपलब्धियों की उनसे अपेक्षाएँ है। इसका प्रभाव विद्यार्थियों की आत्म अवधारणा, उपलब्धियों, और अभिप्रेरणा पर दिखाई देता है।
4. अगर शिक्षक का बच्चों के प्रति एक तरह का व्यवहार बना रहता है तथा बच्चे किसी सक्रिय तरीके से उसका प्रतिरोध करके उसे बदल नही देते, तो यह बच्चे के व्यवहार और उपलब्धियों को आकार प्रदान करने लगता है। ऊँची अपेक्षाएँ, ऊँचे स्तर की उपलब्धियों को प्राप्त करने की तरफ ले जाती है।

5. कुछ समय के उपरांत बच्चे की उपलब्धियाँ शिक्षक की आशाओं के अनुरुप हो जाती है।

रिस्ट ने एक अश्वेत समुदाय के स्कूल का तीन साल तक अध्ययन किया। उन्होंने पाया कि शिक्षक का बच्चों के प्रति एक पक्षीय समझ का प्रभाव अलग–अलग रुपों में है। किन्डरगार्टन कक्षा शुरू होने के सिर्फ 8 दिन के अन्दर शिक्षक ने बच्चों की अकादमिक योग्यता के अपने अनुमान के आधार पर स्थाई बैठक व्यवस्था बना डाली– जिसके लिए किसी प्रकार का विधिवत् मूल्यांकन नहीं किया गया था। कमरे में बच्चों की बैठक व्यवस्था उनके बीच के सामाजिक विभेद का आईना थी। गरीब परिवारों के बच्चे और वे, जिन्हें सरकारी मदद मिलती थी वे एक साथ बैठते थे, जबकि कामकाजी वर्ग के बच्चे दूसरे समूह में बैठते थे और मध्य वर्ग के बच्चे तीसरे सूमह में। बच्चों के इन अलग–अलग समूहों से शिक्षक की अपेक्षाएँ भी अलग–अलग थीं। जिन्हें वह उनके बीच अलग–अलग समय देकर, अलग–अलग सराहना देने व अनुशासित करने की क्रियाएँ करके, व कक्षा में अधिकार व स्वतंत्रता के अलग–अलग मौके देकर कार्यरूप में उतारता था। रिस्ट दिखाते हैं कि कैसे किंडरगार्टन में स्थापित ये परिपाटियाँ साल दर साल बनाए रखी गई।

इस तरह जब बच्चों को उनके सामजिक वर्ग के नाम से दाग दिया जाता है तो इस बात के उनको जीवन में मिल सकने वाले अवसरों पर दूरगामी परिणाम होते हैं।

हारग्रीव्स ने दिखाया कि सेकेण्डरी स्कूल इस तथ्य पर बहुत गर्व करते हैं कि कुछ चुनिंदा श्रमिक वर्ग के बच्चे उनकी छठी कक्षा को उत्तीर्ण कर पाए। बहुसंख्य कामकाजी बच्चों की विफलता को वे नजरअदांज कर देते हैं। यह एक छुपे हुए पाठ्यक्रम (हिडन करीकुलम) के पहलु को दर्शाता है। बच्चे ऐसा मानना शुरु कर देते हैं कि श्रमिक वर्ग में पैदा होना या श्रमिक हो जाना बुरा है। यह भी मानना शुरु करते हैं कि श्रमिक वर्ग से सभी बच्चों को बचना चाहिए। ये सारा संदेश विद्यार्थी को शिक्षक के उन पर होते व्यवहार से – जैसा कि "तुम्हें ज्यादा मेहनत से काम करना चाहिए" जैसे कथनों से मिल जाता है। इसके बावजूद ज्यादातर श्रमिक वर्ग के बच्चे अपने वर्ग से बच नहीं पाते। हारग्रीव्स के अनुसार शिक्षक की नज़र में सफलता का मतलब है कि कामकाजी बच्चा "मध्यम वर्ग" का बन जाए परन्तु यह अपेक्षा कामकाजी वर्ग के बहुसंख्यी छात्रों की प्रतिष्ठा को ध्वस्त कर देती है। वे असफल होने के कलंक बटोरते रह जाते हैं।

।।।।।।।।।

पठन सामग्री क्र.– 10

काम के लिए पलायन तथा बच्चों की शिक्षा

अविभाजित मध्यप्रदेश के छत्तीसगढ़ प्रदेश के 5 ज़िलों (रायपुर, बिलासपुर, राजनाँदगॉव, दुर्ग तथा रायगढ़) के 100 गाँवों में "Seasonal Rural Out-Migration from Chhattisgarh Region with Special Reference to Scheduled Castes & Scheduled Tribes Communities" सन् 2000 शीर्षक से किए अध्ययन में कहा गया है कि–

छत्तीसगढ़ के मैदानी गाँवों की जनसंख्या का लगभग 9ः लोग जीविका के लिए हर साल दूसरे राज्यों को पलायन करते हैं। इनमें से 40ः लोग अनुसूचित जनजाति व 24ः लोग जनजाति के हैं। इनमें छत्तीसगढ़ से बाहर दिल्ली, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, पंजाब, महाराष्ट्र आदि राज्यों में जाने वालों का प्रतिशत ज्यादा है। इनमें सीमान्त कृषक तथा भूमिहीन श्रमिकों की संख्या अधिक है जो ज़्यादातर निरक्षर हैं या थोड़ा बहुत पढ़–लिख लेते हैं या पाँचवी तक पढ़े होते हैं। जनसंख्या का सबसे ज़्यादा दुखद पहलू यह है कि इनमें से एक तिहाई बच्चे हैं। अर्थात इनमें से 14 वर्ष आयु वर्ग के बच्चों का प्रतिशत लगभग 13 प्रतिशत है जो माता–पिता के साथ अपनी पढ़ाई छोड़कर उनके साथ चले जाते हैं। ईंट की भट्टियों में काम करने वाले परिवारों के बच्चे भी ईंट बनाने के काम में शामिल होते हैं क्योंकि इस काम में पूरा परिवार एक इकाई के रूप में काम करता है।

जनसंख्या के सर्वे के आधार पर यह देखा गया है कि लोग प्रतिदिन प्रति व्यक्ति 40 से 100 रू. तक कमाते हैं तथा प्रति परिवार 2000 से 10000 (Migrant period) तक बचत करते हैं। यद्यपि 80 से 100 रूपए तक कमाने वालों तथा 3000 से 10000 रूपए तक बचत करने वालों का प्रतिशत अत्यन्त कम होता हैं।

पलायन हर वर्ष माह नवम्बर से जनवरी के मध्य होता है। जबकि कुछ परिवार तो जून के महीने में अपने निवास में वापस आते हैं। **यहाँ उल्लेखनीय है कि ये माह बच्चों के शिक्षा के लिए बहुत महत्वपूर्ण होते हैं।**

इस प्रकार आप स्वयं देखें कि जीविका के लिए समाज का कौन सा वर्ग ज़्यादा पलायन करने के लिए मज़बूर है और इसका बच्चों की शिक्षा पर कैसा प्रभाव पड़ता है?

|||||||||

पठन सामग्री क्र.– 11

प्राथमिक शिक्षा को मज़बूती प्रदान करने वाली पिछली और अगली कड़ियाँ

संक्षिप्त सिंहावलोकन/विहंगम दृश्य (overview)

विमला रामचंद्रन

पिछली और अगली कड़ियाँ

व्यापक रूप से यह माना जाता है कि स्कूल जाने वाले बच्चों का एक महत्वपूर्ण अनुपात उन बच्चों का होता है (विशेषकर दलित या शोषित पृष्ठभूमि के बच्चे और लड़कियाँ) जो या तो पाँचवी कक्षा में पहुँचने से पहले ही स्कूल छोड़ देते हैं, अथवा यदि वे स्कूल जाना जारी भी रखते हैं तो बहुत थोड़ा सीखते हैं। यह बात उन बच्चों में सबसे अधिक देखी जा सकती है जो हमारे समाज के सबसे कमज़ोर तबके से आते हैं, जिनमें से अधिकांश सरकारी प्राथमिक स्कूल व्यवस्था पर निर्भर करते हैं। यह तो सभी को पता है कि सरकारी स्कूलों (ग्रामीण और शहरी) और निजी/सहायता प्राप्त स्कूलों के बीच शैक्षिक उपलब्धियों में काफी बड़ा अन्तर होता है।

गैर सरकारी संगठनों की परियोजनाओं, सरकारी कार्यक्रमों, और अन्य साझा उपक्रमों के अनुभवों ने यह उजागर किया है कि अच्छी गुणवत्ता के व सबको जोड़ने वाले पाठ्यक्रम या सघन पाठ्यक्रम बच्चों को फिर से शिक्षा की मुख्य धारा में आने के लिए प्रेरित करने में प्रभावी रहे हैं। इसी प्रकार कमज़ोर बच्चों की सहायता के लिए चलाए गए पाठ्यक्रम और विशिष्ट प्रशिक्षण कैम्पों/कार्यक्रमों से ना केवल बच्चों को स्कूल छोड़ने से रोकने में अपितु स्कूल में उनके शिक्षा सम्बन्धी उपलब्धियों को बेहतर बनाने में भी जबर्दस्त परिवर्तन आया है। नीतियाँ बनाने वालों, प्रशासकों और शिक्षा कर्मचारियों से हुई चर्चाओं से यह बात सामने आई है कि बुनियादी शिक्षा का सार्वभौमीकरण तब तक सम्भव नहीं है जब तक हम इन तीन महत्वपूर्ण क्षेत्रों पर ध्यान न दें– स्कूल–पूर्व शिक्षा, सुधारात्मक शिक्षा और उन बच्चों के लिए जोड़ने वाले संक्षिप्त पाठ्यक्रम जिन्होंने या तो स्कूल छोड़ दिया है या जो सिखाया जा रहा है उसे सीखने में असमर्थ हैं, और तीसरा है प्राथमिक शिक्षा के बाद की शिक्षा। जहाँ शुरुआती बचपन की देख–रेख और शिक्षा (जिसे भारत में इ.सी.सी.ई. के नाम से जाना जाता है) का महत्व निसन्दिग्ध रूप से स्वीकार किया जा चुका है, वहीं अन्य दो क्षेत्रों के लिए यही बात नहीं कही जा सकती। इसी सन्दर्भ में पूरे देश के शिक्षाविद् पिछड़ी और अगली कड़ियों के बारे में बात करते हैं जो प्राथमिक शिक्षा को मज़बूत करती हैं।

प्राथमिक शिक्षा में बच्चों की सक्रिय भागीदारी ढेर सारे कारकों पर निर्भर करती है। स्कूल का भौतिक रूप से सुलभ हो जाना इसका सिर्फ एक आयाम है। बच्चे नियमित तौर पर स्कूल नहीं जाते, और अगर जाते भी हैं तो विभिन्न कारणों से वे बहुत अधिक नहीं सीख पाते हैं। हम स्कूल तक पहुँच, बेकार पड़े स्कूलों, शिक्षकों की अभिप्रेरणा और प्रतिबद्धता, तथा स्कूलों की गुणवत्ता जैसे व्यवस्थात्मक मुद्दों से शुरुआत करें। एक बार जब बच्चे स्कूल पहुँचते हैं, तो कई प्रकार के कारण यह तय करते हैं कि वे स्कूलों में बने रहेंगे या फिर उन्हें छोड़ जाएगे, वे कितना और क्या सीखते हैं, और क्या उनमें औपचारिक शिक्षा को जारी रखने के लिए अभिरुचि और कुशलता उत्पन्न होती है। और, यदि बच्चे गरीबी/पलायन, लिंग की भूमिका या किसी अन्य आर्थिक कारण के

चलते जब स्कूल छोड़ते हैं, तो उन्हें औपचारिक शिक्षा व्यवस्था में वापस ले जाने के लिए बने किसी कार्यक्रम की उपस्थिति या अनुपस्थिति यह तय करती है कि वे दोबारा स्कूल जा पाएँगे या नहीं। ये सभी कारक समुदाय के सामाजिक और लैंगिग रिश्तों के व्यापक सन्दर्भों, क्षेत्र में रोजगार की स्थिति और बाल–मज़दूरी के प्रचलन की पृष्ठभूमि में काम करते हैं।

अनुभव यह बताता है कि ऐसे हतोत्साहित/दिग्भ्रमित युवाओं की मौजूदगी – जिन्होंने शायद प्राथमिक शिक्षा या तो पूरी की है या फिर बीच में ही छोड़ दी है, जिनके पास या तो अपर्याप्त रोजगार है या कोई भी रोजगार या उत्पादक कार्य नहीं है – उनके परिवार/समुदाय के दूसरे बच्चे की शिक्षा को बढ़ावा देने की बजाय उनका हौसला गिराने का काम करती है। युवा बच्चे और उनके परिवार उन्हें देखकर यही समझते हैं कि प्राथमिक शिक्षा गरीबों की स्थिति सुधारने का काम नही करती जब तक कि वे ऐसा कुछ नहीं सीखते जो उनके जीवन की मौजूदा परिस्थिति के सन्दर्भ में सार्थक दिखाई दे। यह उन परिस्थितियों में विशेष रूप से सच है जब शिक्षा की वजह से लोगों को किसी तरह का आर्थिक लाभ (रोजगार/स्वरोजगार) प्राप्त नहीं हो पाता, या फिर इतना भी नहीं होता कि दूसरों की दृष्टि में उनका मूल्य बढ़ जाता हो (जिसे आँका नहीं जा सकता, और जिसे आज कल सामाजिक पूँजी कहा जाता है)। साक्षर (या, आप अगर उन्हें कहना चाहें तो शिक्षित) नौजवानों में बढ़ रहे किशोरीय अपराध, हिंसा और सामान्य सामाजिक उथल–पुथल की वजह से युवाओं और शिक्षा (खास तौर से तब जब ऐसे युवाओं ने प्राथमिक स्कूल की शिक्षा पूरी की हो) के प्रति समाज में नकारात्मक रवैए को बल मिलता है।

यह घटना प्रायः निर्वात या चूषण Vacuum or suction प्रभाव कहलाती है, जिसमें पढ़े–लिखे युवाओं में किसी जाने–माने आदर्श के न होने की वजह से जनसंख्या में औपचारिक शिक्षा के प्रति आम तौर पर अरुचि पैदा हो जाती है। पर इसके विपरीत, मज़बूत आदर्शों की मौजूदगी और पढ़े–लिखे युवाओं में दिखने वाली सकारात्मक छवि उत्प्रेरक शक्ति का काम करती है, इससे समुदाय को अपने बच्चों की शिक्षा में निवेश करने के लिए प्रेरणा मिलती है। पश्चिमी देशों में स्कूल छोड़ने वालों की अधिक संख्या, शहरी हिंसा, अपराध इत्यादि का बहुत अच्छा दस्तावेजीकरण किया गया है। युवाओं की सार्थक शिक्षा में निवेश करना, उन्हें भविष्य के लिए उम्मीद का आधार देना, और उन्हें व्यक्ति और समुदाय के तौर पर विकसित होने के लिए अवसर देना, अन्ततः इस बात को प्रभावित करता है कि विभिन्न समुदाय प्राथमिक शिक्षा को कितना मूल्य देते हैं।

ये मुद्दे प्राथमिक शिक्षा के लिए बेहद महत्वपूर्ण हैं। अभी तक, नीति निर्धारक और शैक्षिक प्रशासक औपचारिक स्कूल व्यवस्था और स्कूलों तक सीधी पहुँच के मुद्दों पर ध्यान देते रहे हैं। इन प्रयासों के बावजूद, स्कूली शिक्षा का प्रतिरोध करने वाले समूहों/गुटों/क्षेत्रों के उत्तरोत्तर अधिक प्रमाण मिल रहे हैं। हाशिए पर धकेल दिए गए बच्चों तक पहुँचना कठिन साबित हुआ है। इसी सन्दर्भ में, पिछली और अगली कड़ियाँ, आज के दौर में एक ऐसा वातावरण रचने के लिए महत्वपूर्ण मानी जाती हैं जहाँ हर बच्चा न सिर्फ स्कूल जाता हो बल्कि उसे स्कूली शिक्षा से लाभ भी मिलता हो। शिक्षा में अन्य स्त्रोतों के योगदान के महत्व को रेखांकित करने की दिशा में, विशेषकर बाल श्रमिकों के शिक्षा के अधिकार और शैक्षणिक अवसरों को स्थापित करने के लिए, आन्ध्र प्रदेश के एम वी प्रतिष्ठान ने पथ प्रदर्शक का काम किया है।

पथ–प्रवर्तक (The Trail Blazers)

जब एम वी प्रतिष्ठान ने बाल श्रमिकों और बँधुआ बच्चों के साथ काम करना शुरू किया तब उसका उद्देश्य ऐसे बच्चों को इस रोजगार और बन्धन से बाहर निकालना और उन्हें वापस स्कूल भेजना था। लेकिन तब एक बड़ी समस्या सामने आई। ज़्यादा उम्र के बच्चे पहली कक्षा में शामिल होने के ख्याल से खुश नहीं थे। और उनकी पृष्ठभूमि को देखते हुए उनकी शैक्षणिक तथा मार्गदर्शन सम्बन्धी ज़रूरतें औपचारिक स्कूल व्यवस्था से पूरी नहीं हो पा रहीं थीं। इसका नतीजा यह हुआ कि, प्रतिष्ठान ने इन बच्चों के लिऐ ऐसे कैम्प लगाना शुरू किए जहाँ इन बच्चों को तेज़ी से ऐसी शिक्षा पाने की सुविधा जुटाई गई जिससे वे औपचारिक स्कूलों में पढ़ रहे अपने हम उम्र बच्चों का साथ पकड़ सकें। इन कैम्पों ने बच्चों को काम करने से स्कूल जाने का संक्रमण करने में मदद

की, और उनके अभिभावकों को यह समझने के लिए प्रेरित किया कि बुनियादी शिक्षा हर बच्चे का अधिकार है। ऐसा पहला कैम्प 1991 में लगाया गया था। बच्चों के अति उत्साह और सीखने की गति से यह प्रतिष्ठान अभिभूत हो गया। इनमें से अधिकांश बच्चे 9 से 15 वर्ष समूह के थे। इसके बाद इस संस्था ने फिर पीछे मुड़कर नहीं देखा। आज, एम वी प्रतिष्ठान लड़कियों और लड़कों के लिए बड़ी संख्या में सेतु पाठ्यक्रम पर आधारित कैम्प चला रहा है।

स्कूल के बाहर के बच्चों के नामांकन की प्रक्रिया गाँवों में शुरू हुई। प्रतिष्ठान ऐसे छोटे अभिप्रेरण केन्द्र चलाता है जहाँ बाल श्रमिकों और स्कूल नहीं जाने वाले दूसरे बच्चों को कुछ घण्टों के लिए बुलाया जाता है। अभिप्रेरक–शिक्षक उनके परिवार वालों से मिलकर उनके सपनों और आकांक्षाओं के बारे में बातचीत करते हैं। वे अभिभावकों और घर के बुजुर्गों से बात करते हैं। कुछ ही सप्ताहों के भीतर, इन केन्द्रों के बच्चे कैम्पों में जाने के लिए तैयार हो जाते हैं। कुछ लड़के तो इतने अधिक अधीर हो जाते हैं कि वे अपने अभिभावकों की अनुमति के बिना ही भाग खड़े होते हैं ओर पास के कैम्पों में शामिल हो जाते हैं। फिर भी लड़कियों के मामलों में, परिवारों को तैयार करने में थोड़ा अधिक समय लगता है। इन कैम्पों में पहुँचने के बाद बच्चे पहले साथ–साथ रहना सीखते हैं। उन्हें बुनियादी साफ–सफाई, और खुद तैयार होने के बारे में सिखाने के अलावा, यह एहसास भी दिलाया जाता है कि वे बच्चे हैं इसलिए उन्हें अपने बचपन का आनन्द उठाने का अधिकार है। बच्चों को अपनी भावनाओं को खेलों संगीत और रंगमंच के ज़रिए व्यक्त करना सिखाया जाता है। यह सब गतिविधियाँ कैम्पों के अभिन्न अंग हैं।

छह से अठारह महीनों के भीतर, ये बच्चे कक्षा सात तक की पढ़ाई पूरी कर लेते हैं। क्योंकि कुछ बच्चे दूसरों की तुलना में अधिक तेजी से सीखते हैं इसलिए उनके सीखने की गति के अनुसार उनका एक अलग समूह तैयार कर दिया जाता है। शिक्षकों का प्रशिक्षण भी एम वी प्रतिष्ठान ही करता है और इन्हें बच्चों के साथ पूरे समय मिल–जुलकर रहना होता है। एक तरफ जहाँ वे कक्षा के कार्य की कड़ी समय सीमा का पालन करते हैं, वहीं पढ़ाने और सीखने की क्रियाएँ चौबीसों घण्टे चलने वाली गतिविधियाँ होती हैं। जैसे और जब भी बच्चे सातवीं कक्षा की योग्यता प्राप्त कर लेते हैं, उन्हें स्थानीय स्कूलों की प्रवेश परीक्षाओं में हिस्सा लेने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है, या नज़दीक के गाँवों के माध्यमिक स्कूलों में उनका नाम लिखा दिया जाता है। कैंपों के ऐसे बच्चे बड़ी संख्या में हैं जिन्होनें स्थानीय रिहाइशी स्कूलों में नामाकंन के लिए सरकार द्वारा संचालित प्रवेश परीक्षाओं को सफलतापूर्वक उत्तीर्ण किया है। बच्चों और उनके परिवारों को हर बच्चे के शिक्षा के अधिकार को, और शिक्षा के अन्तर्निहित मूल्य को स्वीकार करने के लिए प्रेरित किया जाता है। आन्ध्र प्रदेश की सरकार ने हाल ही में डीपीईपी ज़िलों में इस पहल का विस्तार किया है, और इसे स्कूल नहीं जा रहे बच्चों तक पहुँचने के लिए अपनी रणनीति का एक अहम हिस्सा भी बना दिया है।

यह बात सही है कि एम वी प्रतिष्ठान ने पूरे देश के कई संगठनों को इस दिशा में आगे बढ़ने के लिए प्रेरित किया है, फिर भी हमारे सामने यह प्रश्न हैः क्या स्कूलों में पढ़ने वाले सभी बच्चे "श्रम" से मुक्त हैं? हम लड़कियों पर स्कूल से पहले और स्कूल के बाद पड़ने वाले काम के भारी बोझ से कैसे निपटें? उन बच्चों के बारे में क्या जो खेती के सबसे व्यस्त दिनों में खेतों में काम करते हैं, या फिर वे कारीगर बच्चे जो अपने कारोबार के सबसे व्यस्थ दिनों में स्कूलों में नहीं आते? साफ तौर पर ऐसी ज़टिल परिस्थितियों और समस्याओं के लिए कोई सीधे या सरल उतर नहीं है। कामकाजी बच्चों के लिए फिक्रमन्द लोगों का उचित शैक्षणिक कार्यक्रम (द ऐप्रोप्रिएट एजुकेशन प्रोग्राम ऑफ द कंसर्ड फॉर वर्किंग चिल्ड्रन) इस दिशा में एक कारगर पहल है। आइए दो परिदृश्यों पर गौर करें और ज़मीनी स्तर पर उनके प्रभाव का विश्लेषण करें।

परिदृश्य एक

- शुरुआती बिन्दु यह है कि सभी स्कूल न जाने वाले बच्चों को स्कूलों में लाया जाए, और इस तरह बाल मज़दूरी को खत्म कर दिया जाए।

- हर बच्चे के लिए बुनियादी (सिर्फ प्राथमिक नहीं) शिक्षा के आधारभूत अधिकार के लिए सरकार की ज़िम्मेदारी पर ज़ोर दिया जाए।

- इसी प्रकार, बाल–श्रम के खिलाफ एक अभियान चलाया जाए। यह मीडिया में, नीति के स्तर पर, प्रशासन के साथ और समुदाय में होना चाहिए। उत्पादों को 'बाल–श्रम मुक्त' घोषित किया जाए खास तौर से वे उत्पाद जो निर्यात किए जाते हैं।

- उन लोगों की पहचान की जाए जो बच्चों को नौकरियाँ देते है, और उनके खिलाफ मामले दर्ज़ कराए जाएँ।

- गाँवो/वार्डों में सम्पर्क केन्द्रों से शुरुआत करते हुए, शिक्षा से वापस जोड़ने वाले सेतु पाठ्यक्रमों की व्यवस्था की जाए, और बच्चों को औपचारिक शिक्षा व्यवस्था में वापस लाया जाए।

- सरकार पर इस बात के लिए दबाव डाला जाए कि सेतु पाठ्यक्रमों के बच्चों को माध्यमिक और उच्च स्तरीय स्कूलों में प्रवेश मिले। अगर सम्भव हो तो रिहाइशी स्कूलों में भी उनके दाखिले के लिए प्रयास किए जाए।

- गाँवों को 'बाल–श्रम मुक्त' घोषित किया जाए। इन गाँवों में बच्चों (खास तौर से लड़कियों और छोटे कारीगर परिवारों के बच्चों) द्वारा काम किए जाने के न तो कोई दृश्य मिले, और न ही इसे सामाजिक तौर पर स्वीकार किया जाए। सरकार और समुदाय को इस उपलब्धि पर गर्व महसूस करने के लिए प्रोत्साहित किया जाए।

  अधिक ज़ोर सामाजिक जुड़ाव और शैक्षणिक पहुँच पर है, और इसके साथ ही प्राथमिक शिक्षा की ओर सरकार के कर्त्तव्यों और ज़िम्मेदारियों को प्रमुखता से उठाने की बात जोड़ी गई है। शिक्षक और सामाजिक कार्यकर्ता स्कूल नहीं जाने वाले हर बच्चे का स्कूल में नाम लिखवाने पर ध्यान देते हैं और गुणवत्ता तथा उपलब्धियों से जुड़े मुद्दों को शैक्षणिक व्यवस्था पर छोड़ देते हैं। (नीतिगत और प्रशासनिक स्तर पर) प्रयास करते हैं कि बच्चों को उच्च स्तरों पर प्रवेश मिले; लेकिन जहाँ प्राथमिक से माध्यमिक स्कूलों और आगे अधिक कुछ नहीं कर सकते। उनकी पहली प्राथमिकता बाल श्रम को खत्म करना है, इसलिये उनमें से अधिकांश में यह संगठन क्षमता नहीं होती है जिससे 'बचाए गए' बच्चों की शैक्षणिक आवश्यकताओं को एक सीमा से अधिक पूरा किया जा सके। वे सरकार पर दबाव ज़रूर डालते हैं कि वह इन बच्चों को उच्चतर–माध्यमिक स्तर तक कि शिक्षा प्रदान करने की ज़िम्मेदारी ले।

परिदृश्य दो

- बच्चों और समुदायों से बात करके उनका विश्वास हासिल किया जाए।

- स्कूल जाने, और न जाने वाले बच्चे जिस तरह का काम करते हैं उसका विवरण इकट्ठा किया जाए।

- काम करने वाले बच्चों को स्वयंसेवी संस्थाओं/संगठनों के रूप में एकत्रित और संगठित किया जाए। उन्हें उनके अधिकारों के बारे में शिक्षित किया जाए, उन्हें उस काम का विवरण देने काबिल बनाया जाए जो वे करते हैं, और उन्हें आगे क्या करना है इसके लिए स्वयं की प्राथमिकताएँ तय करने के लिए प्रेरित किया जाए।

- साथ ही, शिक्षकों और शैक्षणिक प्रशासन के साथ मिल कर शिक्षा की गुणवत्ता सुधारने के लिए काम किया जाए और स्कूलों के भीतर क्या हो रहा है, इस पर भी नज़र डाली जाए। बच्चों (खास तौर से लड़कियों, शोषित वर्ग के बच्चों और कठिन परिस्थितियों से आने वाले बच्चों) के साथ किस तरह का व्यवहार होता हैं? बच्चे क्या कर रहे हैं, वे क्या सीख रहे हैं, और उनमें से कुछ क्यों स्कूल छोड़ देते हैं? संक्षेप में, बच्चों के स्कूलों में जाने और वहाँ बने रहने के लिऐ खींचने और धकेलने वाले कारकों पर ध्यान दें।

- समुदाय को बच्चों के संघ/संस्थाओं के बारे में शिक्षित करें, और एक हैल्प लाइन (मददगार व्यवस्था) भी बनाएँ। साथ ही, स्थानीय प्रशासन और पंचायतों से बातचीत का रास्ता खोलें। बच्चों के अधिकारों के बारे में जागरूकता पैदा करें (बच्चों के अधिकारों के बारे में संयुक्त राष्ट्र की संधि के अनुसार), मुख्य रूप से शिक्षा का अधिकार, शोषण, खतरनाक और गैर खतरनाक कामों से मुक्ति, रहने की जगह, पोषण, और मानसिक तथा शारीरिक स्वास्थ्य।

- अधिक उम्र के बच्चों को उनके भविष्य–प्रशिक्षण, रोजगार और स्व–रोजगार के अवसरों – के बारे में बात करने के लिए प्रेरित करें। शिक्षा को भविष्य के अवसरों से जोड़ें।

- हैल्प लाइन को उन बच्चों तक ले जाएँ जो तनाव या मुसीबत में हैं। बच्चों के अधिकारों को सुनिश्चित करने के लिए सरकार, पंचायत और मालिकों से मिलकर बात करें, और उनका सामना करें (यहाँ तक कि ज़रूरत पड़ने पर मामला भी दर्ज़ करें)।

- बच्चों को शिक्षा समेत अन्य बुनियादी अधिकारों से रोकने वाली समस्याओं के बारे में पंचायत, सरकारी स्कूलों और प्रशासन से बात करें ताकि इनका समाधान निकल सके।

- मौजूदा स्कूलों में शिक्षा के स्तर को सुधारने के लिए शिक्षकों और सरकार के शिक्षण विभाग के साथ काम करें ताकि वे प्रशिक्षण और अध्यापन के नवीनीकरण के ज़रिए ऐसा कर सकें।

- कुछ समय बाद, कार्यक्रम के तहत आने वाले गाँवों को ये घोषित करने दें कि उनके बच्चे स्कूल जाते हैं और वे यह भी स्वीकार करें कि वे घर पर कुछ कार्य भी करते हैं।

- ध्यान इस बात पर दिया जाना है कि बच्चों (और उनके परिवार) को ज्ञान, आत्मविश्वास और सामूहिक क्षमता की सामर्थ्य प्रदान किया जाए ताकि वे कार्यवाई करने और एक –दूसरे की मदद के लिए अपने प्राथमिकताएँ तय कर सकें। बच्चे आपस में बात करें और तय करें कि वे क्या काम कर सकते हैं, और किस तरह का काम उनके विकास और वृद्धि के लिए खतरनाक हो सकता है। इसका कुल परिणाम यह होगा कि पूर्णकालिक और खतरनाक काम से बच्चे हट जाएँगे। जबकि घरों, परिवारों, खेतों, पारिवारिक व्यवसायों में उनके काम, और खेती के महत्वपूर्ण दिनों में परिवार की सहायता के लिए किए जाने वाले काम को स्वीकार किया जाए। इस तरीके में गुणवत्ता, तत्व और शिक्षा के औचित्य को केन्द्र बिन्दु में लाया जाता है। बच्चों के संगठन के ज़रिए सामाजिक एकजुटता और समुदाय की जागरूकता को हासिल किया जाता है।

इन दोनों तरीकों में क्या समान बात है? दोनों प्रकार के कार्यक्रमों से, उनमें भाग लेने वाले बच्चे आत्मविश्वास से भरे नौजवान युवक और युवतियों के रूप में निकलकर आते हैं, वे स्वयं को बहुत गरिमामय ढंग से प्रस्तुत करते हैं और अपने मन की बात निडर रूप से कह सकते हैं। इन दोनों ही तरीकों के ज़रिए बच्चों में आत्म सम्मान

निर्मित करने पर प्रमुख ध्यान दिया जाता है। रंगमंच, संगीत, खेलों और कई तरह की यात्राओं और भ्रमण से बच्चों को बचपन की खुशियों का अनुभव करने का अवसर मिलता है। अन्त में, कम से कम ग्रामीण बच्चों के साथ काम कने वाले संगठनों में, बच्चे पूर्णकालिक कामों से बाहर निकल आते हैं और शिक्षा के प्रति उनकी पहुँच बढ़ जाती है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि शुरुआती बिन्दु सहित दोनों की रणनीतियों और प्राथमिकताएँ भिन्न हैं। जहाँ एक तरीका, यह सुनिश्चित करने के लिए कि हर बच्चा स्कूल जाए, सरकार के दायित्व को प्राथमिकता देता है, तो दूसरे में बच्चों के अधिकारों के ढाँचे के अन्तर्गत उन्हें संगठित करके, और उनके सामर्थ्य को बढ़ावा दे कर स्कूल जाने के अनुभव की गुणवत्ता में सुधार की दिशा में काम करता है। एम वी प्रतिष्ठान और द कंसर्न्ड फॉर वर्किंग चिल्ड्रन – ये दोनों ही संगठन अपने ढंग से पथ–प्रर्वतक हैं और पूरे शिक्षण समुदाय को उनसे बहुत कुछ सीखने की आवश्यकता है।

मामलों का अध्ययन

इन मामलों के अध्ययन का मुख्य उद्देश्य उनका दस्तावेजीकरण करके व्यापक तौर पर लोगों को ऐसे शैक्षणिक कार्यक्रम उपलब्ध कराना है जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से बुनियादी शिक्षा को प्रभावित करते हैं/सहारा देते हैं/मज़बूत बनाते हैं। हम मानते हैं कि, यद्यपि हमारा निरूपण सम्पूर्ण तस्वीर नहीं दिखाता, हमारा प्रयास निम्न प्रकार के शैक्षणिक कार्यक्रमों का विवरण देने का रहा है :

- स्कूल से पहले की शिक्षा
- स्कूलों की तैयारी कराने वाले कैम्प और सेतु पाठ्यक्रम।
- जीवन से जुड़ी और अच्छी गुणवत्ता की शिक्षा के लिए सार्थक पहुँच (न केवल भौतिक पहुँच) प्रदान करने वाले कार्यक्रम।
- कमज़ोर वर्गों/क्षेत्रों के बच्चों और युवाओं में आत्म–सम्मान और आत्म–विश्वास निर्मित करने वाले कार्यक्रम।
- स्कूलों को खुशनुमा अनुभव बनाने और शैक्षणिक प्रक्रियाओं को अर्थपूर्ण बनाने वाले कार्यक्रम; स्कूलों में सुधारात्मक पाठ्यक्रम जो सीखने की क्षमता को बढ़ाते हों और स्कूल छोड़ने की दर को कम करते हों।
- विशेषकर कामकाजी बच्चों को लक्ष्य करके, सामाजिक रूप से संगठित करने के कार्यक्रम।
- स्कूल से बाहर के बच्चों और युवाओं के लिए त्वरित शैक्षणिक कार्यक्रम जिससे बड़े बच्चों को प्राथमिक शिक्षा को पूरा करने का अवसर मिलता है, और जिनका उद्देश्य, जहाँ तक सम्भव हो, या तो उन्हें औपचारिक व्यवस्था में वापस आने के योग्य बनाना, या फिर उन्हें ज्ञान/कलाएँ; जीवनयापन करा सकने वाला हुनर (विकास के लिए कलाएँ), जीवन के कौशल, और समग्र शैक्षणिक कार्यक्रम का लाभ प्राप्त करने में मदद करना होता है।

यहाँ जितने भी कार्यक्रम और परियोजनाएँ दिए गए हैं उनका ध्यान मुख्य रूप से लड़कियाँ, शहरों और ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले कमज़ोर समुदाय (मुख्यतः अनुसूचित जाति) के बच्चों, कठिन परिस्थितियों में रहने वाले बच्चों, जैसे शहरों में सड़कों पर रहने वाले बच्चों और यौनकर्मियों के बच्चों – जो कि मुख्य रूप से अतिसंवेदनशील समूहों से आते हैं – पर है। दुर्भाग्य से, सबसे खटकने वाली चूक यह हुई है कि इनके चुनाव में शारीरिक रूप से अक्षम बच्चों (शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों) के लिये कार्यक्रमों को छोड़ दिया गया है।

उभरते मुद्दे

नए परिवर्तनों के वर्तमान दस्तावेजों में एक सामान्य त्रुटि यह है कि उसमें शैक्षणिक उपलब्धियों के एक अवस्था से दूसरी अवस्था में परिवर्तन के, और शिक्षा के प्रत्येक स्तर के समापन के आँकड़े लगभग अनुपस्थित हैं। प्रक्रियाओं की कहानियाँ और वृतान्त, जीवन इतिहास और अन्य गुणात्मक रूपरेखाएँ निःसन्देह परिस्थितियों के गठन को समझने में हमारी मदद करते हैं। परन्तु बच्चों की भागीदारियों, परिवर्तनों और शैक्षणिक उपलब्धियों पर मात्रात्मक जानकारी की कमी की वजह से, शैक्षणिक आयोजकों का तर्क होता है कि हम निश्चित तौर पर यह नहीं कह सकते कि कोई विशेष नमूना या प्रारूप काम करता है या नहीं। सरकारी और गैर सरकारी संगठनों दोनों ही क्षेत्रों में अधिकांश विशेष कार्यक्रम मात्रात्मक आँकड़ों के मामले में कमज़ोर हैं। इसलिए उनके प्रभाव के बारे में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन होता है और ऐसा प्रयास करना किस्सा बन कर रह जाता है। क्या परिवर्तन की प्रक्रिया के ऐसे दस्तावेजीकरण का, जैसा इस संकलन में किया गया है, कोई मूल्य हैं? इस संकलन के मामलों का अध्ययन यह दर्शाता है कि, 'ठोस आँकड़ों'' की कमी के होते हुए भी, अलग–अलग कार्यों के लिखित दस्तावेज हमारे ज्ञान के संचय को बढ़ाते हैं और वैकल्पिक योजनाओं और तरीकों पर जानकारीपूर्ण बहस को सम्भव बनाते हैं।

पिछले 20 वर्षों में मूल्यों की शिक्षा पर होने वाली बहसों ने स्पष्ट रूप से पक्षपाती रंग ले लिया है। बुनियादी मूल्य, जैसे कि अधिकार, समानता और नागरिकता – जो न केवल हमारे संविधान में प्रतिष्ठित हैं, बल्कि जो प्रजातंत्र का सारतत्व भी हैं – धार्मिक और सामुदायिक विमर्शों के शोर–गुल में खो गए हैं। कठोर ऊँच–नीच के दर्ज़ों पर आधारित, और निदेशात्मक प्रणाली से, अधिक साझा और विकेन्द्रित प्रणाली की ओर जाना शायद विकसित हो रहे प्रजातांत्रिक मूल्यों के लिए पूर्व शर्त है। यहाँ पर यह बताना बहुत ज़रूरी है कि ऐसा नहीं है कि (शासकीय प्रणाली में) केवल बच्चे ही प्रभावित होते हैं, शिक्षकों को भी सामने आने वाली ज़रूरतों का समाधान करने की लगभग कोई स्वतंत्रता नहीं होती, शिक्षकों के साथ काम करने वाले प्रशिक्षकों को वास्तविक शिक्षण–प्रकिया से दूर रखा जाता है, निरीक्षण बच्चों और आपूर्ति की जानेवाली वस्तुओं को गिनने में व्यस्त रहते हैं, ज़िला प्रशासन केवल आदेशों का पालन भर करता है, और यहाँ तक कि राज्य सरकारों को भी शैक्षणिक कार्यक्रमों को चलाने की स्वतंत्रता नाममात्र की होती है। आखिर किसका हुक्म चलता है? किसी भी प्रकार का सुधार लाना इतना कठिन क्यों है? व्यवस्था इतनी सख्त और अनम्य Inflexible क्यों हो गई है? निःसन्देह विशेष शिक्षा परियोजनाओं, जिसमें डीपीईपी भी शामिल है, के अन्तर्गत कुछ प्रयास किए गए, ताकि अलग–अलग स्तरों पर लोगों को यह महसूस हो कि वे कार्यक्रमों के प्रभारी अधिकारी थे। शायद इसीलिए कर्णाटका की नल्ली कली सम्भव हो पाया। वास्तव में (प्रयासों की) विविधता न केवल गुणवत्ता का सारतत्व है; बल्कि दोयम दर्ज़े के भीड़तंत्र के सामने यह हमारा एकमात्र सुरक्षा कवच भी है। हो सकता है कि अवसरों और स्वतंत्रता को बढ़ने के साथ बुनियादी प्रजातांत्रिक मूल्य स्कूली व्यवस्था में भी प्रवेश कर जाए, और यह भी हो सकता है कि हम मक्काला पंचायतों और बच्चों की संसदों के अनेक और उदाहरण देखें।

बाल श्रम और भूतपूर्व बाल श्रमिकों की औपचारिक स्कूलों तक पहुँच आसान बनाने के लिए चलाए गए अभियान अपने बताए गए लक्ष्य को हासिल करने में काफी सफल रहे हैं। यद्यपि यह देखा गया है कि इस प्रकार के कार्यक्रमों में गुणवत्ता वाले मुद्दों – जैसे बच्चे क्या सीख रहे हैं, वे कितना सीख रहे हैं, शिक्षा का तत्व क्या है, इत्यादि – को बिरले ही छुआ गया है। इस मार्ग के समर्थकों का यह तर्क है कि अच्छी गुणकारी प्राथमिक शिक्षा के लिए कार्यावली को निर्धारित करने की ज़िम्मेदारी सरकार की है। दूसरी तरफ, शिक्षा की गुणवत्ता और सार्थक पहुँच के वाद–विवाद में व्यस्त लोग यह तर्क देते हैं कि शिक्षा की गुणवत्ता और प्रासंगिकता में सुधार लाने की दिशा में काम करे बिना बच्चों को स्कूल में धकेल देना ही काफी नहीं होता। दुर्भाग्यवश, बड़े पैमाने पर अनौपचारिक शिक्षा कार्यक्रम और सहायक शिक्षकों वाले वैकल्पिक स्कूल सीधी या भौतिक पहुँच को लेकर अधिक चिन्तित रहते हैं। अब शिक्षकों की क्षमता/योग्यता में निवेश करने को, तथा शैक्षणिक संसाधनों से मिलने वाले लगातार सहायोग की व्यवस्था करना, और अध्यापन के नवीनीकरण को प्राथमिकता नहीं दी जाती है। यहाँ हमें

पैमाने और गुणवत्ता के बीच एक सन्तुलन को बनाए रखने के लिए एक पुरानी सूक्ति पर लाकर खड़ा कर देता है – क्या यह अति आवश्यक नहीं है कि हम जब पैमाने को बड़ा करें तो बुनियादी गुणवत्ता के मानदण्डों को भी सुनिश्चित करें?

विशेष कार्यक्रमों में भाग ले रहे गरीब बच्चों के साथ हुई बातचीत ने यह उजागर किया कि जब तक हम गुणवत्ता में निवेश करने के लिए राजी नहीं होते, तब तक समाज के बेहतर वर्गों के बच्चों से उनकी मुकाबला कर पाने की सम्भावना नहीं होगी। बच्चों के लिए प्राथमिक से माध्यमिक, और फिर व्यावसायिक शिक्षा की ओर बढ़ने के लिए आवश्यक ठोस शैक्षिक आधार, समय और वातावरण अब भी गरीब बच्चों की पहुँच से दूर है। गरीबों के लिए अधिकांश कार्यक्रम ज़्यादा से ज़्यादा माध्यमिक स्तर तक जाते हैं। यहाँ तक कि व्यावसायिक शिक्षा और जीवनयापन की कलाओं में प्रशिक्षण भी उनकी पहुँच से बाहर है। प्राथमिक शिक्षा को निश्चिंतता से जीवनयापन करने का एक जरिया बनाने के लिए आवश्यक अगली कड़ियाँ अभी निर्मित होनी है। अलग–अलग अवस्थाओं पर निकास बिन्दुओं को स्थापित करना – विशेषकर कक्षा आठ और बारहवीं के बीच – बच्चों को जीविका और जीवन कलाओं पर आधारित कार्यक्रमों की ओर जाने में मदद करेगा। अधिकांश बुनियादी शैक्षिक कार्यक्रम दीर्घकालीन दृष्टिकोण और आगे की योजना लेकर नहीं चलते। गुणवत्ता और प्रासंगिकता के मुद्दों से जूझना शायद किसी भी दीर्घकालीन शैक्षिक योजना की ओर पहला कदम होगा। हम अब भी शुरुआती अवस्थाओं से ही जूझ रहे हैं।

नए–नए परिवर्तनों और प्रयोगों का एक आन्तरिक मूल्य होता है– वे हमारे ज्ञान के भण्डार को, तथा व्यवस्थाओं और प्रक्रियाओं की हमारी समझ को बढ़ाने में योगदान देते हैं। हालाँकि अधिकांश लोगों का यह भी मानना है कि जिस प्रकार से भारत में प्राथमिक शिक्षा की स्थिति है, तथा उसे जैसे संचालित किया जाता है उसमें आधारभूत परिवर्तनों का होना ज़रूरी है। इसी दृष्टि से कर्णधारों और नए परिवर्तनों का मुख्य धारा की शिक्षा सम्बन्धी सोच तथा सिद्धान्तों पर पड़ने वाला प्रभाव महत्वपूर्ण होता है। दुभार्ग्यवश जिस तरह वर्तमान व्यवस्था कार्य करती है उसमें बदलाव की गुंजाइश बहुत कम होती है। वे लोग जो शिक्षण, योजना, शोध और सरकार की प्रशिक्षण संस्थाओं के प्रभारी होते हैं – जिन्हें बुद्धिजीवी माना जाता है– विकल्पों पर हो रहे किसी चर्चा या बहस में नहीं पड़ रही और वे जो भाग लेते हैं, उनका मुख्य धारा की संस्थाओं और व्यवस्थाओं पर न के बराबर प्रभाव होता है। डीपीईपी में सन्निहित दोनों ही कार्यक्रम – नल्ली कली और आदर्श समूह–विकास पद्धति – इसके दुर्लभ अपवाद हैं। यद्यपि इसके बारे में शंकाएँ बनी हुई हैं कि क्या ऐसे पथ–प्रदर्शक कार्यक्रम उनके निर्धारित कार्यकाल के बाद भी चलते रहेंगे।

विकास प्रक्रिया के परिदृश्य का अवलोकन करने पर, विशेषकर प्राथमिक शिक्षा में, यह जानकर चिन्ता होती है कि अधिकांश नवपरिवर्तन क्षणभंगुर होते हैं – उनका लम्बे समय तक बने रहना और विस्तार– ये दो बड़ी समस्याएँ बनी हुई हैं। सरकारी और स्वैच्छिक क्षेत्रों में अधिकांश नए कार्यक्रमों का सामान्य कार्यकारी माहौल लगातार अनिश्चित बना हुआ है। बदली राजनीतिक प्राथमिकताएँ, नेतृत्व में बदलाव और दाताओं की बदलती प्राथमिकताएँ– इन सबका प्रभाव निरन्तरता पर पड़ता है। व्यापक स्तर पर चलाए जा रहे एक सरकारी कार्यक्रम, "राजस्थान लोक जुंबिश" से मिले अनुभव इसका उदाहरण हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है जहाँ बहुलता और नवप्रवर्तन महत्वपूर्ण हैं, वहीं हमें गुणवत्ता का चक्र बनाए रखने और बढ़ाने के लिए आवेग बनाए रखने की आवश्यकता होती है। प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में काम कर रहे अधिकांश संगठन किसी ऐसे राष्ट्रीय तंत्र का हिस्सा नहीं होते हैं जो उनके हितों को लेकर ऊँचे स्तर पर उनके लिए वकालत कर सके।

अधिकांश विशेष कार्यक्रमों को सबसे अधिक तंग करने वाला प्रश्न स्वामित्व का है। यह जानना शिक्षाप्रद है कि मुम्बई नगर निगम, "प्रथम" संस्था द्वारा शुरू किए गए कार्यक्रमों को स्वयं के कार्यक्रम की तरह देखता है– इसमें हम और वे का भेद कम है। कार्यक्रम के बारे में सूचना, वित्तीय सहायता और मानव संसाधन निवेश आसानी से उपलब्ध है और पारदर्शी है। इसी प्रकार, द एप्रोप्रिएट एजुकेशन प्रोग्राम ऑफ द कंसर्ड फॉर वर्किंग चिल्ड्रन भी औपचारिक शिक्षा व्यवस्था के साथ मिलकर काम करता है। यह किसी और का कार्यक्रम नहीं है,

बल्कि उनका अपना है, और हम यहाँ स्वामित्व की भावना देखते हैं, जो अभिभावकों और सामुदायिक नेताओं में स्पष्ट दिखाई देती है। भीम संघ, मक्काला पंचायत और औपचारिक स्कूलों में शैक्षणिक निवेश को एक ही जुड़े हुए विस्तार के हिस्से के रूप में देखा जाता है। इसमें 'हम और वे'' का भेद दिखाई नहीं देता।

फिर भी, स्वामित्व का प्रश्न सरकार के सम्बन्ध में एक अलग रंग ले लेता है। जहाँ केन्द्र तथा राज्य सरकार के कई अधिकारी नवप्रवर्तन और प्रयोगों को सराहते हैं, वहीं व्यवस्था' उन्हें अभी भी अपवाद मान कर चलती है, जिन्हें असाधारण लोगों द्वारा शुरू किया गया है, और इसलिए उन्हें दोहराया नहीं जा सकता। सार्थक रणनीतियों के तौर पर स्वीकार किया जाना तो बेहद दूर की बात है, इन नवप्रवर्तनों से सीख गए पाठ, ना तो अध्यापन के नवीनीकरण के मुद्दे पर और ना ही शिक्षण और प्रशिक्षण के लिए प्रेरणा के स्त्रोत की तरह, मुख्य धारा में बहस का विषय तक नहीं बन पाते हैं। डीपीईपी में हाल ही में मुख्य धारा के लिंग मुद्दों पर प्रकाशित लेख एक ऐसा ही मामला है। जहाँ इसमें कई प्रकार की रोमांचक और प्रभावकारी रणनीतियों की सूची और विवरण देकर उनकी प्रशंसा की गई है, इनकी "सफलता" कुछ ही गाँवों और स्कूलों तक सीमित छोटे–छोटे प्रयास बन कर रह गए हैं। इन्हें बहुत गर्व से दिखाया जाता है, और इसमें लिंग सम्बन्धी चिन्ताओं को 'मुख्य धारा' में शामिल करने का भाव भी होता है। लेकिन मुख्य व्यवस्था और अधिकांश स्कूल उसी तरह काम कर रहे हैं जिस तरह वे करते रहे हैं।

निष्कर्ष टिप्पणी

सन् 2001 में की गई भारत की जनगणना के प्रारम्भिक नतीजों के मुताबिक 65.4 प्रतिशत भारतीय (75.85 प्रतिशत पुरुष और 54.16 प्रतिशत महिलाएँ) अब साक्षर हैं। जनसंख्या वृद्धि दर अब 1.95 प्रतिशत (1980 के दशक के 2.16 प्रतिशत से) वार्षिक औसत तक कम हो गई है; लिंग अनुपात में थोड़ा सुधार हुआ है और यह 1991 की जनगणना के 927 की तुलना में अब 933 (प्रत्येक 1000 पुरुषों पर महिलाएँ) है। फिर भी, चिन्ताजनक पहलू यह है कि 0–6 वर्ष के आयु समूह में लिंग अनुपात बहुत तेज़ी से गिरा है, 1991 में यह 945 था जो 2001 में 927 हो गया। हमें यह बताया गया है कि साक्षरता की दर हर जगह सुधरी है, और यह सुधार राजस्थान, उड़ीसा और मध्य प्रदेश में बहुत तेज़ी से हुआ है। लेकिन पूरे भारत में उम्मीद की यह तस्वीर, उत्तर प्रदेश और बिहार में ठीक नहीं दिखाई देती, जहाँ साक्षरता की दर साधारण रही है। जनसंख्या में वृद्धि की दर बिहार और हरियाणा में बढ़ी है। इसी प्रकार, जहाँ अधिकांश इलाकों में सभी उम्र के राष्ट्रीय लिंग अनुपात में वृद्धि हुई है, वहीं हिमाचल प्रदेश, गुजरात, हरियाणा, पंजाब और दिल्ली में स्थिति बद्तर हो गई है। चेतावनी की बात यह है कि हिमाचल प्रदेश में, जहाँ साक्षरता का स्तर बढ़ा है और स्कूल जाने की उम्र वाले 98 प्रतिशत बच्चे नामांकित हैं और स्कूल जा रहे हैं, लिंग अनुपात 1991 में 976 की तुलना में 2001 में 970 हो गया।

लिंग अनुपात

सामान्य प्राकृतिक नियम के अनुसार मानव समाज में महिला व पुरुषों की संख्या बराबर होना चाहिए था। यानी अगर 1000 पुरुष हैं तो 1000 महिला भी हो। लेकिन कई कारणों से 1000 पुरुषों पर 1000 महिला न होकर 950 या 920 ही होती हैं। इसका एक प्रमुख कारण है महिलाओं और खासकर बालिकाओं के पोषण और स्वास्थ्य की उपेक्षा। दूसरा कारण है कि कई समूहों में लड़की के पैदा होते ही उसकी हत्या कर दी जाती है या फिर आधुनिक तकनीकों की मदद से भ्रूणावस्था में ही उन्हें नष्ट कर दिया जाता है।

साक्षरता के आँकड़े पूरी तस्वीर नहीं बताते। इस जनगणना ने महिलाओं की स्थिति, शिक्षा, साक्षरता और आर्थिक विकास के आपसी सम्बन्धों पर बहस शुरू कर दी है। इनके कोई सरल उत्तर नहीं हैं और न ही एक जैसे आपसी सम्बन्ध है। समृद्ध क्षेत्रों में, जहाँ अधिकांश बच्चे प्राथमिक स्कूलों में जाते हैं, लिंग अनुपात तेज़ी से कम हो रहा है। तमिलनाडु और आध्र प्रदेश में अधिकांश लड़कियों को छठी या सातवीं कक्षा के बाद स्कूल छुड़वाया जा रहा है ताकि वे खेतों में (कपास या सब्जी चुनने का काम) और परिवार के उपक्रमों में मजदूरी कर सकें। आर्थिक समृद्धि से शिक्षा की पहुँच में– विशेष रूप से कम गरीब और मध्यम आमदनी वाले परिवारों की

लड़कियों की शिक्षा तक पहुँच में सुधार हुआ है। लेकिन "गरीबी की रेखा से नीचे" के परिवारों की लड़कियों की स्थिति चिन्ता का कारण है। इन अनुभवों का दस्तावेजीकरण और प्रसार अधिक लोगों में होना चाहिए, एक ऐसी भाषा में जो बहुत विद्वतापूर्ण या औपचारिक न हो। इससे देश के साधारण नागरिकों और मीडिया में कुछ बहस शुरू हो सकती है। बच्चों की शिक्षा संवेदनशील और महत्वपूर्ण मुद्दा है– और अब समय आ गया है कि लोग हमारी शिक्षा व्यवस्था की विषय–वस्तु, प्रक्रिया और उसके समय मूल्य आधार की गहराई से पड़ताल करें। इसी उम्मीद के साथ यह विनम्र प्रयास शुरू किया गया है।

नोट और सन्दर्भ

1. रामचन्द्रन, विमला, 1999, "द विजिबिल बट अनरीच्ड", सेमिनार, फरवरी, 474:22–25.
2. एम वी प्रतिष्ठान के डॉक्टर शान्ता सिन्हा का तर्क है कि स्कूल न जाने वाले सभी बच्चे पारिभाषिक रूप से बाल श्रमिक हैं, और बाल श्रम समाप्त करने की रणनीतियाँ जटिल रूप से इस बात से जुड़ी हैं कि हर बच्चा स्कूल जाएँ।
3. 1991–2001 के दशक में, सबसे कम विकास दर केरल में 9.42 प्रतिशत दर्ज़ की गई थी, इसके बाद तमिलनाडु जहाँ 11.19 प्रतिशत और आंध्र प्रदेश जहाँ यह दर 11.36 प्रतिशत थी।
4. समग्र नामांकन अनुपात 115 (लड़के 115 और लड़कियाँ 114) है, यह अनुसूचित जाति के बच्चों के लिए 116 (अनुसूचित जाति के लडकों का 116 और अनुसूचित जाति की लड़कियों के लिए 115) है और अनुसूचित जनजाति के बच्चों में 112 (अनुसूचित जनजाति के लड़कों का 112 और अनुसूचित जन जाति की लड़कियों का 111) है। लड़कों और लड़कियों का एनईआर (1999–2000) 97 प्रतिशत है। हिमाचल प्रदेश सरकार। 12 वें संयुक्त समीक्षा मिशन की डी.पी.ई.पी. परियोजना प्रगति रिपोर्ट, नवम्बर 1999।
5. रेड्डी. सी. राममनोहर. 2001 "पजलिंग पैटर्नस इन सेंसस 2001" द हिन्दू (चेन्नई), 28 मार्च।

|||||||||

छत्तीसगढ़ डी.एड. पाठ्यक्रम के लिए बनाया गया यह सरलीकृत पाठ कमला भसीन द्वारा लिखित "भला ये जेण्डर क्या है?"; अनुवाद वीणा शिवपुरी; जागोरी प्रकाशन; पृ. 1–16 से लिया गया है

ख. जेण्डर

पठन सामग्री क्र. 12

भला यह जेण्डर क्या है?

भला ये जेण्डर क्या है? कमला भसीन, अनुवादः वीणा शिवपुरी, पृ. 1 से 16 जागोरी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003

इस सामग्री में अनेक प्रश्नों के माध्यम से– लैंगिक असमानता व भेदभाव क्या है? भेदभाव के पीछे क्या–क्या कारण हैं? प्राकृतिक लिंग क्या है? सामाजिक लिंग क्या है? इनके बीच क्या फर्क है? समाज ने कैसे सामाजिक लिंग को प्राकृतिक लिंग का रूप दे दिया है? आदि बातों को बड़े ही सहज ढँग से बताया गया है।

इस पठन सामग्री पर कक्षा में दो समूहों के बीच प्राकृतिक लिंग और सामाजिक लिंग के पक्ष में वाद–विवाद का आयोजन करें तथा अपने व्यक्तिगत जीवन के अनुभवों को विस्तार से कक्षा में अपने साथी छात्राध्यापकों के साथ बाँटें।

- **हालाँकि अँग्रेज़ी भाषा के व्याकरण में हम जेण्डर शब्द से परिचित रहे हैं लेकिन अब इस शब्द का इस्तेमाल ज़ाहिर है कि एक दूसरे ही अर्थ में किया जा रहा है। क्या आप यह नया अर्थ समझा सकती हैं?**

जेण्डर शब्द का इस्तेमाल अब सामाजिक अर्थ में या अब धारणात्मक शब्द के रूप में हो रहा है। इसे अब एक बहुत ही खास अर्थ दे दिया गया है। अपने इस नए रूप में जेण्डर शब्द का अर्थ है औरत तथा मर्द दोनों की सामाजिक व सांस्कृतिक परिभाषा यानि समाज औरत व मर्द को किस तरह से देखता है, उन्हें कैसी भूमिकाएँ, अधिकार, संसाधन देता है, उन्हें किस तरह का व्यवहार व मानसिकता सिखाता है।

आजकल जेण्डर शब्द का इस्तेमाल औरतों व मर्दों की ज़मीनी सामाजिक सच्चाईयों को समझने के लिए, विश्लेषण के एक औज़ार के रूप में किया जाता है।

औरतों की अधीनता की स्थिति का ज़िम्मेदार उनके शरीर को मानने की आम सोच से निपटने के लिए "जेण्डर" की अवधारणा लाई गई। सदियों से यह माना जाता रहा है कि औरतों तथा मर्दों की चारित्रिक विशेषताएँ, उनकी भूमिकाएँ और समाज से मिलने वाला अलग दर्जा आदि सब उनकी जैविकीयता या उनके शरीर (यानी उनके सेक्स या लिंग) द्वारा निर्धारित होता है। अगर मान लें कि अपने शरीर की वजह से स्त्री–पुरुष में अन्तर और ऊँच–नीच है तो स्त्री–पुरुष असमानता समाज और प्राकृतिक बन जाती है। उसे दूर करने के लिए कुछ करने की ज़रूरत भी नहीं समझी जाती। जेण्डर की धारणा के तहत सेक्स या शारीरिक लिंग एक बात है लेकिन जेण्डर बिलकुल अलग।

हर कोई नर या मादा के रूप में पैदा होता है। हमारी सेक्स की पहचान जननांगों को देखकर ही की जा सकती है। परन्तु हर संस्कृति में लड़के और लड़कियों की अहमियत निर्धारित करने और उन्हें अलग भूमिकाएँ, जवाबदारी और विषेषताएँ प्रदान करने के अपने तरीके होते हैं। जन्म के समय से ही लड़के और लड़कियों को उनके अलग–अलग रूप में ढालने की जो सामाजिक और सांस्कृतिक प्रक्रिया शुरू होती है उसे "जेण्डरीकरण"

कहा जा सकता है। हर समाज में एक नर या मादा बच्चे को धीरे–धीरे मर्द या औरत के रूप में, उसकी पुरूषोचित या स्त्रियोचित विशेषताओं के साथ विकसित किया जाता है। उनके गुण, व्यवहार के तरीके, भूमिकाएँ, ज़िम्मेदारियाँ, अधिकार और उम्मीदें भी अलग–अलग होती हैं।

सेक्स की पहचान जन्म से जैविकीय रूप में मिलती है परन्तु औरतों तथा मर्दों की जेण्डर पहचान सामाजिक और मनोवैज्ञानिक रूप से मिलती है अर्थात ऐतिहासिक व सांस्कृतिक रूप से तय की जाती है।

इस धारणा का इस्तेमाल करने वाली कुछ नारीवादी विद्वानों में से एक ऐन ओकली का कहना है कि – जेण्डर का सम्बन्ध संस्कृति से है। इसका तात्पर्य उन सामाजिक श्रेणियों से है जिनमें मर्द व औरतें, "पुरूषोचित" और "स्त्रियोचित" रूप ले लेते हैं। लोग नर हैं या मादा इसका पता शारीरिक प्रमाण से किया जा सकता है, लेकिन पुरूषोचित व स्त्रियोचित को इस तरीके से नहीं जाँचा जा सकता, उसके मानदण्ड सांस्कृतिक होते हैं जो समय और स्थान के साथ बदलते हैं। सेक्स की स्थिर सच्चाई को स्वीकारना पड़ेगा परन्तु साथ ही जेण्डर की परिवर्तनशील सच्चाई को भी स्वीकारा जाना चाहिए।

अन्त में वे कहती हैं – जेण्डर का मूल जैविकता या शरीर में नहीं है तथा सेक्स और जेण्डर के बीच रिश्ता कतई "प्राकृतिक" नहीं है। चलिए, हम इन दो अलग–अलग सच्चाईयों के बीच मुख्य अन्तर देखें।

सेक्स	जेण्डर
सेक्स जैविकीय या शारीरिक है। यानी ऐसा फर्क जो औरत व मर्द के जननांगों में और उससे जुड़े प्रजनन कार्यों में साथ दिखाई देता है।	जेण्डर सामाजिक, सांस्कृतिक है। इसका सम्बन्ध पुरूषोचित–स्त्रियोचित गुणों, व्यवहार के तरीकों, भूमिकाओं आदि से है।
सेक्स प्रकृति की देन है।	जेण्डर सामाजिक, सांस्कृतिक है तथा मनुष्य ने बनाया है।
सेक्स स्थाई है। हर जगह व समय शारीरिक रूप से स्त्री व पुरूष के वहीं अंग होते हैं।	जेण्डर परिवर्तनशील है। यह समय के साथ, संस्कृति के साथ, यहाँ तक कि एक परिवार से दूसरे परिवार में बदल सकता है।
सेक्स को बदला नहीं जा सकता।	जेण्डर को बदला जा सकता है।

- **जेण्डर शब्द का अनुवाद दक्षिण एशियाई भाषाओं में किस प्रकार किया जा सकता है?**

यह एक समस्या है। अंग्रेज़ी भाषा में दो अलग–अलग शब्द हैं– सेक्स और जेण्डर, जबकि अधिकतर दक्षिण एशियाई भाषाओं में हमारे पास एक ही शब्द है – "लिंग" जिसे सेक्स और जेण्डर दोनों के लिए इस्तेमाल किया जाता है। इन दोनों में फर्क दर्शाने के लिए हमने दो शब्द ढूँढे हैं। सेक्स के लिए हम "प्राकृतिक लिंग" तथा जेंडर के लिए "सामाजिक लिंग" शब्द का इस्तेमाल कर सकते हैं। वास्तव में ये दोनों शब्द "सेक्स" और "जेण्डर" शब्दों से बेहतर है क्योंकि इन शब्दों के जरिए उनका अर्थ भी साफ हो जाता है और आगे किसी तरह के स्पष्टीकरण की जरूरत नहीं होती। सामाजिक लिंग या जेण्डर को हम छोटे रूप में सालिंग कह सकते हैं और प्राकृतिक लिंग (सेक्स) को प्रालिंग।

- **परन्तु क्या सामाजिक लिंग का सम्बन्ध हमारे प्राकृतिक लिंग से नहीं है? क्या औरतों व मर्दों को मिलने वाली भूमिकाएँ, बर्ताव के ढंग उनके प्राकृतिक लिंग के अन्तर के आधार पर नहीं होते?**

सिर्फ कुछ हद तक ऐसा होता है। उनकी शारीरिक रचना के कारण औरतों को माहवारी होती है, वे बच्चे पैदा करती हैं, उन्हें दूध पिलाती हैं लेकिन सब औरतें बच्चे पैदा नहीं करतीं। और वैसे भी प्रजनन के अलावा ऐसा

कुछ नहीं है जो औरतें कर सकती हैं पर मर्द नहीं कर सकते या मर्द कर सकते हैं और औरतें नहीं कर सकतीं। और बच्चे पैदा करने का यह मतलब नहीं है कि सिर्फ औरतें ही उन्हें पाल सकती हैं या उन्हें ही बच्चों को पालना चाहिए। पालन–पोषण मर्द भी उसी तरह कर सकते हैं। इसलिए नर या मादा शरीर के साथ पैदा होने का यह अर्थ नहीं कि हमारा स्वभाव, बर्ताव, भूमिकाएँ यहाँ तक कि भाग्य भी उन्हीं के आधार पर निश्चित कर दिया जाए।

जेण्डर सामाजिक व सांस्कृतिक विषेषताएँ हैं, प्राकृतिक नहीं, यह इसी बात से साबित हो जाता है कि वे समय के साथ–साथ, अलग–अलग जगहों पर तथा विभिन्न सामाजिक समूहों में भिन्न–भिन्न होती हैं। मिसाल के लिए एक मध्यमवर्गीय परिवार की लड़की की दुनिया घर और स्कूल तक सीमित होती है जबकि आदिवासी लड़की आज़ादी से जंगलों में अकेली घूमती है, मवेशी चराने ले जाती है या फलों, पत्तों और टहनियों को तोड़ने के लिए ऊँचे–ऊँचे पेड़ों पर चढ़ जाती है। वे दोनों ही लड़कियाँ हैं, दोनों के शरीर भी एक जैसे हैं लेकिन उनकी योग्यताओं के विकास में, उनकी आकांक्षाओं और सपनों में बहुत फर्क होता है।

इस तरह से कई परिवारों में पारम्परिक रूप से दस–ग्यारह साल की उम्र के बाद लड़कियों को स्कूल नहीं भेजा जाता था या घर के बाहर निकलने पर पाबन्दी होती थी। प्रायः किशोरी होते ही उनकी शादी कर दी जाती थी। अब हालात बदल रहे हैं। इसी तरह मर्दों की शिक्षा, भूमिकाएँ और ज़िम्मेदारियाँ भी बदल रही हैं पर शायद उतनी ज़्यादा नहीं। जब हम कहते हैं कि जेण्डर परिवर्तनशील है, यह बदलता रहता है तो हमारा मतलब ऐसे ही बदलावों से होता है। यह अलग–अलग समय पर, अलग–अलग परिवारों व समाज में अलग हो सकता है। इस सबका अर्थ है कि सालिंग (जेण्डर) प्रकृति का रचा नहीं है, समाज का रचा है।

सच तो यह है कि हम स्वयं या समाज या संस्कृति हमारे शरीर तक को बदल सकते हैं। हम प्रशिक्षण के द्वारा शरीर के नाप, आकार और ताकत में बदलाव ला सकते हैं। उसी प्रकार उसके इस्तेमाल, गैर इस्तेमाल या अत्याचार से भी शरीर कमज़ोर या ताकतवर बन सकते हैं। हमारे सामने स्त्री–पुरुष पहलवानों, धावकों, तैराकों, नर्तकों या योग साधकों के उदाहरण मौजूद हैं। उसी प्रकार से, औरतों के शरीर की बनावट ऐसी है कि वे प्रजनन कर सकती हैं परन्तु अब यह चुनाव हमारे हाथ में है कि बच्चे हों या नहीं, कितने हों तथा कितने अन्तर पर हों। बच्चे पैदा करना औरतों के लिए उस तरह की अनिवार्यता या मज़बूरी नहीं है जैसी कि मादा पशुओं के लिए है।

> **"ऐतिहासिक रूप से, किसी सामाजिक व्यवस्था ने, लिंगों के बीच के प्राकृतिक अन्तर को इस बर्बरता और सोचे–समझे ढंग से नहीं बढ़ाया और तोड़ा–मरोड़ा है जैसा कि हमारी ने। इस व्यवस्था ने पहले प्राकृतिक लिंग को बनावटी व सामाजिक लिंग में बदला, मर्दों को 'मर्द' बनाया तथा औरतों को "औरत"। सच तो यह है कि "मर्द" मानव जाति ही बन गए तथा औरतें सिर्फ एक लिंग रह गई। और अन्त में इन फर्कों को पैदा करने के बाद उन्हें प्राकृतिक घोषित कर दिया ताकि उनका आर्थिक शोषण भी किया जा सके।"**
>
> **कलॉडिया वॉन वर्लहॉफ**

प्रत्येक समाज लड़के और लड़कियों, औरतों और मर्दों के लिए भिन्न नियम बनाता है जो उनके जीवन के हर पक्ष को ही नहीं भविष्य को भी नियंत्रित करते हैं। चलिए कुछ बहुत प्रत्यक्ष नियमों को देखते हैं।

पहनावाः– अधिकांश समाजों में लड़के–लड़कियाँ तथा औरतें व मर्द अलग–अलग ढंग की पोशाकें पहनते हैं। कुछ जगहों पर यह फर्क नाम मात्र के लिए होता है तथा कुछ अन्य जगहों पर बहुत ज्यादा। कुछ समुदायों में औरतों को अपने चेहरे सहित पूरा शरीर, एड़ी से चोटी तक ढक कर रखना पड़ता है। पहनावे के ढँग का असर व्यक्तियों की गतिशीलता, उनकी आज़ादी की भावना और सम्मान पर पड़ता है।

गुण व विषेषताएँः– अधिकांश समाजों में औरतों से आशा की जाती है कि वे कोमलता, साज–संभाल, सेवा और आज्ञाकारिता, आत्मविश्वासी, तार्किक और होड़ में आगे बढ़ने वाले हों। एक भारतीय नारीवादी **वसन्था कन्नबिरान** ने एक जेण्डर प्रशिक्षण के दौरान कहा था – "यह समझा जाता है कि बच्चों को पालना औरतों के लिए उतना ही स्वाभाविक और प्राकृतिक है जितना बच्चों को जन्म देना... और यह सिर्फ अपने बच्चों के सन्दर्भ

में नहीं समझा जाता बल्कि यह मान लिया जाता है कि प्यार और ममता का भण्डार मेरे भीतर इस इन्तजार में है कि जैसे ही किसी को उसकी ज़रूरत होगी वह झरने की तरह फूट पड़ेगा। हम शाश्वत माताएँ बन जाती हैं। इस तरह मैं न सिर्फ अपने बच्चों को ममता देती हूँ बल्कि दूसरों के बच्चों को, पति को, अपने भाईयों को, अपनी बहनों को, अपने पिता को (जो सच में मुझे 'मेरी छोटी—सी माँ'! कहकर पुकारते हैं) भी देती हूँ। इस तरह मैं हर एक के लिए माँ बन जाती हूँ। आपसे यह आशा की जाती है कि आप सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के प्रति मातृत्व भाव उड़ेलती रहें तथा यह सब प्राकृतिक समझा जाता है। उसके लिए कुछ करना नहीं पड़ता इसलिए वह काम नहीं है। यह तो आप उसी स्वाभाविकता से करती है जैसे साँस लेती हैं, खाती या सोती हैं।"

भूमिकाएँ और ज़िम्मेदारियाँ:— मर्दों को परिवार का मुखिया, रोजी—रोटी कमाने वाला, सम्पत्ति का मालिक और प्रबन्धक, राजनीति, धर्म, व्यवसाय और पेशे में सक्रिय व्यक्ति के रूप में देखा जाता है। दूसरी ओर औरतों से आशा की जाती है तथा उन्हें सिखाया जाता है कि वे बच्चे पैदा करें, पालें, बीमारों व बूढ़ों की सेवा करें, सारा घरेलू काम करें आदि—आदि। उनके इसी रूप पर अन्य बातें भी निर्भर करती हैं जैसे उनकी शिक्षा या वास्तव में शिक्षा की कमी, रोज़गार के लिए तैयारी, रोज़गार की प्रकृति आदि। फिर भी औरतों तथा मर्दों की भूमिकाओं के बीच फर्क के स्तर में बहुत विभिन्नता पाई जाती है। कभी—कभी नियम सिर्फ पसन्द को दर्शाते हैं और थोड़े समय के लिए भूमिकाओं की अदला—बदली होने पर किसी को परेशानी नहीं होती।

> **"एलोर से कारा डयूबोइस की रिपोर्ट है कि यहाँ हालाँकि दोनों लिंगों की अलग—अलग आर्थिक भूमिकाएँ हैं लेकिन फिर भी यदि कोई दूसरे लिंग की भूमिका निभाता है तो उसे बुरा नहीं समझा जाता, बल्कि उन्हें आर्थिक हुनरमन्दी के लिए पसन्द किया जाता है। औरतें जीवन निर्वाह से जुड़ी आर्थिक गतिविधियों का नियंत्रण करती हैं और मर्द वित्तीय सौदों का काम सम्हालते हैं लेकिन फिर भी बहुत से मर्दों को घरेलू खेती—बाड़ी का बेइन्तिहा शौक होता है और कई औरतों में वित्तीय मामलों की गहरी समझ होती है। दूसरी ओर, कुछ संस्कृतियों में जहाँ घरेलू खेती—बाड़ी को औरतों का काम समझा जाता है, अगर मर्द उसमें दिलचस्पी दिखाएँ तो उसे उनकी मर्दानगी में गड़बड़ी का सबूत समझा जाता है। जबकि कुछ अन्य में, दोनों लिंगों की भूमिकाओं को योग्यता से निबाहने वाली औरतों की प्रशंसा की जाती है।"**
>
> **—ऐन ओकली**

- **क्या सामाजिक—लैंगिक अन्तर इसलिए पैदा होते हैं क्योंकि लड़कियाँ व औरतें जैविकीय रूप से कमज़ोर हैं?**

वास्तव में जैविकीय नज़रिये से पुरूष कमज़ोर लिंग है तथा वाई क्रोमोजोम (जो नर लिंग में ही होता है) अनेक अक्षमताओं के लिए ज़िम्मेदार होता है।

एशले मौन्टेग्यू ने अपनी किताब 'द नैचुरल सुपीरियोरिटी ऑफ विमॅन' में ऐसी 62 गड़बड़ियों की सूची दी है जिनका सम्बन्ध मुख्य रूप से या पूर्णतया लिंग निर्धारण करने वाले जीन्स से होता है व प्रायः वे कमियाँ पुरूषों में पाई जाती हैं। "इन बीमारियों में हीमोफीलिया (खून का थक्का जमने की प्रक्रिया में गड़बड़ी) मिस्ट्रल स्टैनोसिस (दिल की बनावट में खराबी) तथा कुछ मानसिक कमज़ोरियों सहित आधी से ज़्यादा बीमारियाँ गम्भीर किस्म की होती हैं। गर्भधारण की स्थिति से लेकर जीवन के हर चरण में आनुवांशिक कारणों से मादा की तुलना में अधिक नर मरते हैं। इसीलिए शायद प्रकृति मादा की तुलना में अधिक नर उत्पन्न करती। अधिक मृत्यु और अधिक उत्पत्ति – ये दो तथ्य साथ—साथ चलते हैं।"

हालाँकि एक्स तथा वाई शुक्राणु बराबर संख्या में उत्पन्न होते प्रतीत होते हैं परन्तु प्रति 100 मादा भ्रूणों की तुलना में 120 से 150 तक नर भ्रूण गर्भ में ठहरते हैं। यू.एस.ए. के श्वेतों में गर्भावस्था पार करते समय तक पहुँचते—पहँचते यह अनुपात गिरकर 100 पर 106 रह जाता है तथा ब्रिटेन में तो 100.98 ही होता है। मादा की तुलना में अधिक संख्या में नर भ्रूण का गर्भपात हो जाता है या वे मृत जन्म लेते हैं। प्रसव के धक्के में भी मादा

की तुलना में अधिक नर जन्म के दौरान मर जाते हैं। प्रसव के दौरान लगी चोटों से 54 प्रतिशत तथा जन्मजात खराबियों के कारण 18 प्रतिशत नर अधिक मरते हैं।

वास्तव में जन्म के समय मादा की जीवन अवधि की सम्भावना लगभग सभी जगह नर से अधिक होती है। ब्रिटेन में जन्म के समय स्त्रियों की जीवन सम्भावना 74.8 जबकि पुरूषों के लिए यह 68.1 है, चीन में क्रमशः 65.6 तथा 61.3 है, ब्राजील में 45.5 तथा 41.8 है ।

ऐन ओकली ने शोध से मिले आँकड़ों के द्वारा इस बात के पर्याप्त सबूत दिए हैं कि पुरूषों को संक्रामक बीमारियाँ होने व उससे मृत्यु होने की सम्भावना अधिक है। उनके अनुसार पुरूषों की "इस कमज़ोरी का सीधा सम्बन्ध स्त्री–पुरुष के भिन्न संघटन से है। संक्रमणों से लड़ने की शरीर की व्यवस्था का नियंत्रण करने वाली जीन्स ऐक्स क्रोमोजोम के ज़रिए मिलती हैं। पुरुषों की इस जन्मजात कमज़ोरी के पीछे निश्चित रूप से जीव रासायनिक कारण हैं।"

दक्षिण एशिया में औरतों की यह जैविकीय श्रेष्ठता उन पर थोपी गई सामाजिक सांस्कृतिक हीनता के आगे कमज़ोर पड़ गई है। यहाँ पर पुरुषों की तुलना में औरतें कम हैं, औरतों की जीवन अवधि पुरूषों से कम है और आज लगभग हर क्षेत्र में औरतें मर्दों से पिछड़ गई हैं।

सदियों से कुछ बड़े विचारक ऐसे भी हुए हैं जो औरतों के बारे में नकारात्मक विचार रखते आए हैं, जो कि निम्नलिखित पैराग्राफ में देखने को मिलता है –

औरतों के बारे में फैलाई गई अफवाहें

अरस्तू ने नर सिद्धान्त को सक्रिय तथा मादा को निष्क्रिय कहा था। उनके अनुसार मादा एक "खण्डित नर" है, जिसके पास आत्मा नहीं है। औरत की शारीरिक कमज़ोरियों के कारण ही वह योग्यताओं में भी हीन रहती है। उसकी तार्किक योग्यता और निर्णय शक्ति भी कम होती है। चूँकि नर श्रेष्ठ है और मादा हीन, पुरूषों का जन्म शासन करने के लिए और स्त्रियों का जन्म शासित होने के लिए हुआ है। अरस्तु ने कहा है "पुरुष का साहस उसकी प्रभुता में है और स्त्री का उसकी आज्ञाकारिता में।"

सिगमंड फ्रॉयड ने कहा कि औरत के लिए उसका "शरीर ही भाग्य है।" फ्रॉयड के लिए सामान्य मनुष्य एक नर तथा स्त्री उसका बिगड़ा हुआ रूप है, जिसके पास 'लिंग' नहीं है और जिसकी पूरी मानसिकता अपनी इस कमज़ोरी को पूरा करने के संघर्ष के इर्द–गिर्द घूमती है।

और यह है औरत के बारे में डार्विन साहब का मत – औरत अपनी मानसिकता में पुरूष से भिन्न मालूम होती है। खास तौर पर उसमें अधिक कोमलता है और स्वार्थी भाव कम है। आमतौर पर यह माना जाता है कि औरतों में अन्तर्दृष्टि, तत्काल समझ तथा नकल की योग्यता पुरूषों से अधिक है परन्तु इनमें से कुछ बातें "निम्न प्रजातियों की चारित्रिक विशेषताएँ हैं और इस प्रकार वे सभ्यता के अतीत व निचले दर्जे से जुड़ी हैं।"

- **क्या आप यह कह रही हैं कि स्त्री तथा पुरूष के बीच के जैविकीय अन्तर का कोई महत्व नहीं है? औरतें बच्चे पैदा करती हैं। इस सच्चाई का समाज द्वारा दी गई उनकी भूमिका से कोई वास्ता नहीं है?**

हम इससे इन्कार नहीं करते कि स्त्री व पुरूष, नर व मादा के बीच कुछ जैविकीय अन्तर हैं लेकिन यह भी सच है कि अलग–अलग संस्कृतियों की सालैंगिक (जेण्डर) भूमिकाओं के बीच इतना फर्क मिलता है कि उन्हें किसी प्रकार से प्रालिंग आधारित नहीं माना जा सकता। यदि हमारी भूमिकाएँ सिर्फ जैविकीयता से तय होती हैं तो संसार की हर औरत सिर्फ खाना पका रही, कपड़े धो रही या सिलाई कर रही होनी चाहिए लेकिन ज़ाहिर है स्थिति ऐसी नहीं है क्योंकि अधिकांश पेशेवर रसोइए, धोबी और दर्जी मर्द हैं।

हमारा कहना है कि औरतों और मर्दों के बीच जो अन्यायपूर्ण असमानताएँ मौजूद हैं उनके लिए न तो प्रालिंग

और न ही प्रकृति ज़िम्मेदार है। जातियों, वर्गों और नस्लों के बीच की ऊँच–नीच की तरह ये ऊँच–नीच भी मनुष्य द्वारा बनाई गई है। इन्हें इतिहास के किसी मोड़ पर बनाया गया था इसलिए इन पर सवाल भी उठाए जा सकते हैं, चुनौती दी जा सकती है और उन्हें बदला भी जा सकता है। एक औरत, बच्चे ज़रूर पैदा करती है लेकिन यह ऐसा कोई कारण तो नहीं जिससे वह हीन या आधीन हो जाए और न ही इस बात को उसकी शिक्षा, प्रशिक्षण व रोज़गार के अवसरों का नियंत्रक होना चाहिए। भिन्न शरीर और उसकी क्रियाओं के कारण ऊँच–नीच क्यों पैदा होनी चाहिए? प्रकृति में हर ओर विविधता है लेकिन फिर भी हर जीव का अपना महत्वपूर्ण स्थान है। समानता, बराबर अधिकारों और अवसरों के लिए एक जैसा होना तो ज़रूरी नहीं। भिन्नता का मतलब ऊँच–नीच या गैर बराबरी तो नहीं है। गुलाब और कमल भिन्न हैं पर इनमें कौन ऊँचा, कौन नीचा? पाँचों उँगलियाँ एक जैसी नहीं हैं, इनके अलग–अलग काम हैं, पर शरीर के लिए पाँचों की अहमियत है, पाँचों ज़रूरी हैं।

- **यदि ऐसा है तो क्या आप हमें बता सकती हैं कि समाज किस तरह से स्त्रियों व पुरूषों को स्त्रियोचित और पुरूषोचित (जनाना और मर्दाना) प्राणियों में बदलता है?**

यह सामाजीकरण या सालैंगीकरण की प्रक्रिया के द्वारा होता है। यह प्रक्रिया परिवारों और समाज में लगातार चलती रहती है।

हम सब जानते हैं कि शिशु के जन्म के साथ ही लिंग के आधार पर वह एक खास श्रेणी का हो जाता है यानी लड़का या लड़की। साथ ही सालिंग (जेण्डर) से जुड़ा पूरा सोच भी उसके अस्तित्व का हिस्सा बन जाता है। हमने पहले भी देखा है कि किस प्रकार कुछ संस्कृतियों में नवजात लड़का–लड़की का स्वागत भी अलग ढंग से होता है। इसके बाद जिस तरह से उस बच्चे को पुकारा जाएगा, खिलाया, पिलाया या दुलारा जाएगा उसमें फर्क होगा। उसके कपड़े–लत्तों में, आगे चलकर उसके लिए नियम, कायदों में, उसे दी गई व्यवहार करने की सीख में अन्तर होगा। इस प्रक्रिया को **सामाजीकरण** कहा जाता है। सामाजीकरण की प्रक्रिया के दौरान जब बच्चों को उनकी जेण्डर भूमिकाओं की शिक्षा मिलती है और उनकी कच्ची मन–बुद्धि को एक खास दिशा दी जाती है तो उसे **सालैंगीकरण** (genderisation) की प्रक्रिया या सालैंगिक **(जेण्डर) शिक्षा** (gender indoctrination) कहते हैं। उनके सामाजिक क्रिया–कलाप के जरिए बच्चों के व्यक्तित्व में पुरूषत्व और नारीत्व पैदा किया जाता है और वे उससे जुड़े बर्ताव के तरीकों, रवैयों और भूमिकाओं को अपने भीतर **समाहित** (internalise) कर लेते हैं।

रूथ हार्टले के अनुसार सामाजीकरण चार प्रक्रियाओं के द्वारा होता है – **छल योजन** (manipulation) धारा बद्धता (canalisation), मौखिक सन्देश (verbal appellation) तथा कार्यों से पहचान (Activity exposure)। अधिकतर इन चारों प्रक्रियाओं में लिंग के आधार पर भेद किया जाता है तथा ये जन्म से ही शिशु के सामाजीकरण का भाग होती हैं।

छल योजन (manipulation) या साँचें में ढालने की प्रक्रिया का तात्पर्य है कि आप किस तरह बच्चे को सम्हालते हैं। देखा गया है कि लड़कों को शुरू से सशक्त और स्वतंत्र व्यक्ति के रूप में देखा जाता है। कुछ संस्कृतियों में माताएँ छोटी–सी लड़की के भी कपड़ों, बालों के ढंग और साज–श्रृंगार की तरफ काफी ध्यान देती हैं और उसे कहती हैं कि वह कितनी सुन्दर है। छुटपन के इन शारीरिक अनुभवों का काफी गहरा असर, बच्चे के मन में उसकी अपनी छवि पर पड़ता है। वे अपने आपको एक खास रूप में देखने लगते हैं – सशक्त या कोमल।

दूसरी प्रक्रिया **धाराबद्धता** (canalisation) के अन्तर्गत लड़के और लड़कियों का ध्यान विशेष चीज़ों या उनके खास पक्षों की ओर निर्देशित किया जाता है। इसके उदाहरण हैं लड़कियों को खेलने के लिए गुड़िया, रसोई के बर्तन आदि देना और लड़कों को बन्दूक, कार और हवाई जहाजों से खेलने के लिए प्रोत्साहन करना। दक्षिण एशिया के कामगार घरों में लड़कियाँ बर्तनों से नहीं खेलती हैं। उन्हें बचपन से ही असली बर्तन और घर साफ करने और असली मुन्ने–मुन्नी खिलाने के काम पर लगा दिया जाता है जबकि वे खुद बच्ची होती हैं। दूसरी ओर लड़के या तो स्कूल जाते हैं या घर के बाहर काम करते हैं। इस तरह से अलग–अलग बर्ताव से लड़के

और लड़कियों की रूचियाँ एक खास दिशा में धाराबद्ध होने लगती हैं। आगे चल कर उनकी योग्यताओं, रवैयों, आकांक्षाओं और सपनों का विकास भी अलग–अलग दिशाओं में होता है। कुछ खास चीज़ों से बचपन में बनी पहचान उनके चुनावों पर भी असर डालती है।

मौखिक सन्देश (verbal appellation) भी लड़के और लड़कियों के लिए अलग–अलग होते हैं। मिसाल के लिए हम प्रायः लड़कियों से कहते हैं कि "ओह! बिटिया कितनी प्यारी लग रही हो।" शोध अध्ययन बताते हैं कि ऐसी टिप्पणियों से लड़के और लड़कियों की स्वपहचान बनती हैं। घर के सदस्य बहुत छोटे बच्चों से बात करते हुए भी सीधे तौर पर उनकी जेण्डर भूमिकाओं से जुड़े संदेश देते रहते हैं। इन सन्देशों से यह भी पता लगता है कि किस बच्चे को कितना महत्व दिया जा रहा है।

अन्तिम प्रक्रिया है – **कार्यों से पहचान** (activity exposure) लड़के और लड़कियाँ बचपन से ही अपने चारों ओर पारम्परिक पुरूषोचित और स्त्रियोचित गतिविधियाँ होते देखते हैं। लड़कियों से कहा जाता है कि वे घर के कामकाज में माँ का हाथ बँटाएँ जबकि लड़के बाप के साथ बाज़ार जाते हैं। जिन समुदायों में दोनों लिंगों के बीच अलगाव रखा जाता है वहाँ लड़के–लड़कियाँ दो अलग वातावरण में रहते हैं और दो भिन्न प्रकार की गतिविधियाँ देखते हैं। इन्हीं प्रक्रियाओं के जरिए बच्चे पुरूषत्व और नारीत्व का अर्थ समझते हैं और धीरे–धीरे जाने–अनजाने में उसे अपने व्यक्तित्व का हिस्सा बनाते चलते हैं।

- **सामाजीकरण की यह प्रक्रिया लगातार चलती रहती है तो फिर "प्रकृति" (nature) और "पालन–पोषण" की यह बहस अब तक क्यों जारी है? क्या यह साफ नहीं कि लड़कों और लड़कियों के बीच फर्क के लिए उनका पालन–पोषण ही ज़िम्मेदार है?**

आश्चर्यजनक बात यह है कि हममें से अनेक इस बात से आगाह भी नहीं होते कि हम अपने बच्चों के साथ क्या कर रहे हैं। सच तो यह है कि हम विश्वास करते हैं कि लड़के और लड़कियाँ भिन्न होते हैं, इसलिए उन्हें वैसे ही पालना भी चाहिए। हम शायद यह न मानें कि हमारे बेटे और बेटियाँ अलग तरह से इसलिए विकसित होते हैं क्योंकि स्कूलों में, समुदाय और घरों में हम खुद उनके साथ अलग–अलग तरह से व्यवहार करते हैं।

बच्चों को भी यह जानकारी नहीं होती कि उन्हें किसी विशेष रूप में ढाला जा रहा है और वे इन भूमिकाओं को सीखते जाते हैं। यदि सभी लड़के और सभी लड़कियाँ हर जगह एक जैसा व्यवहार करते तो समझा जा सकता था कि सालैंगिक भूमिकाएँ प्राकृतिक लिंग पर आधारित हैं लेकिन हमने देखा है कि यह सच नहीं है। लड़कों–लड़कों और लड़कियों–लड़कियों के बीच भी तो इतने फर्क होते हैं। जब बच्चे या बड़े, अपनी सामाजिक लैंगिक (जेंडर) भूमिका से हटकर कुछ करते हैं, तो उनके खिलाफ नाराज़गी या दण्ड भी एक सशक्त तरीका है जिससे उन्हें निश्चित स्त्री–पुरूष व्यवहार के दायरे में रखा जाता है। सबसे आम दण्ड विधान सामाजिक उपहास या खिल्ली उड़ाना है।

जो औरतें हटकर कुछ करने की हिम्मत करती हैं उनके खिलाफ सामाजिक उपहास का एक भयंकर उदाहरण केरल के एक गाँव में देखा गया। तीन युवा कामगार लड़कियाँ रोज़ अपने पुरूष सहयोगियों को शराबखाने में जाते देखती थीं। एक दिन मज़ाक के तौर पर उन्होंने भी वही करने की सोची। इसके बाद हर तरह के लोगों ने उनका पीछा करना शुरू कर दिया चूँकि औरतों ने ऐसी जगह जाने की हिम्मत की थी जहाँ "शरीफ" औरतें नहीं जातीं, उन्हें "आवारा" का खिताब दे दिया गया। तर्क यह था कि "अगर तुम शराबखाने के भीतर जा सकती हो तो सम्भोग के लिए भी मिल सकती हो।" इस सामाजिक उपहास और बदनामी को न झेल पाने पर इनमें से दो लड़कियों ने आत्महत्या कर ली।

सामाजिक दण्ड के अलावा आर्थिक दण्ड भी होते हैं। ऐन ओकली के अनुसार एकल औरतों व बच्चों को जिन कड़ी आर्थिक कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है वे समाज द्वारा अपनी नापसन्दगी ज़ाहिर करने का ढंग है। इसी प्रकार जब बच्चे निश्चित नियमों और तरीकों से हटते हैं तो परिवार वाले खर्चा पानी बन्द करने की धमकी देते हैं।

|||||||||

पठन सामग्री क्र.– 13

पितृसत्ता क्या है?

छत्तीसगढ़ शिक्षा पत्रोपाधि (डी. एड.) प्रथम वर्ष के पाठ्यकम के लिए प्रस्तुत यह सरलीकृत पाठ कमला भसीन द्वारा लिखी पुस्तक 'पितृसत्ता क्या है' (अनुवादः वीणा शिवपुरी; जागोरी प्रकाशन, नई दिल्ली 2007) से लिया गया है।

प्रश्न : पितृसत्ता क्या है?

उत्तर : पितृसत्ता का शाब्दिक अर्थ है पिता या "कुलपति" (परिवार का बुजुर्ग पुरुष) की सत्ता या शासन। आरम्भ में इस शब्द का इस्तेमाल एक खास तरह के पुरुष प्रधान परिवार के लिए किया जाता था। यह एक बडा संयुक्त परिवार होता था, जिसका सर्वेसर्वा एक बुजुर्ग पुरुष होता था। इस परिवार में इस कुलपति के नीचे औरतें, छोटे मर्द, बच्चे, दास, घरेलू नौकर सभी होते थे। आजकल इस शब्द का इस्तेमाल आम तौर पर पुरुष सत्ता दर्शाने या उन शक्ति सम्बन्धों को बताने के लिए, जिनमें मर्द औरतों को दबाते हैं, या उस व्यवस्था के लिए किया जाता है, जो अनेक तरीकों से औरतों को निचले दर्जे पर रखतीं हैं। किसी भी वर्ग की औरतें क्यों न हों, रोज़मर्रा की जिन्दगी में अनेक तरीकों से अपने गिरे हुए दर्जे को महसूस करती हैं। परिवार, काम की जगह और समाज में औरतों के साथ होने वाला भेदभाव, बेकद्री, अपमान, नियंत्रण, शोषण ज़ुल्म और हिंसा उसके अनेक रूप हैं। पितृसत्ता यानी स्त्री की प्रजनन शक्ति, यौनिकता और श्रम पर पुरुष नियंत्रण।

प्रश्न : पितृसत्ता किस तरह से हमारे सामने आती है? क्या हम उसे अपने जीवन में पहचान सकते हैं?

उत्तर : इस बात को कुछ मिसालों के ज़रिए समझा जा सकता है। हर उदाहरण एक खास किस्म के भेदभाव और पितृसत्ता का एक रूप है :

- मैंने सुना है मेरे जन्म पर परिवार वाले बहुत दुखी हुए थे। वे लड़का चाहते थे। **(बेटे को महत्व)**
- मेरे भाईयों को खाना माँगने का हक था। वे जो चाहते थे, हाथ उठा कर लेते थे। हमें कहा जाता था, जब तक दिया न जाए, इन्तजार करो। हम बहनें और माँ बचे–खुचे से काम चला लेती थीं। **(भोजन के बँटवारे में लड़कियों के साथ भेदभाव)**
- मुझे घर के कामों में माँ की मदद करती पड़ती है, भाई नहीं करते। **(औरतों और बच्चियों पर घरेलू काम का बोझ)**
- स्कूल जाना एक बड़ी लड़ाई थी। मेरे पिता का खयाल था कि हम लडकियों के लिए पढ़ाई की कोई ज़रूरत नहीं। **(लड़कियों के लिए पढ़ाई के अवसरों का अभाव)**
- मैं सहेलियों से मिलने या खेलने बाहर नहीं जा सकती।
- मेरे भाई कितने भी बजे घर आ सकते हैं, लेकिन मुझे अँधेरा ढलने से पहले लौटना पड़ता है। **(लड़कियों के लिए आज़ादी और आने–जाने की छूट का अभाव)**

- मेरे पिता मेरी माँ को कई बार मारते थे। **(पत्नी प्रताड़ना)**
- मेरे भाई तो पिता से भी गए गुज़रे थे। वो नहीं चाहते थे कि मैं किसी भी लड़के से बात करूँ। **(औरतों व लड़कियों पर पुरुष नियंत्रण)**
- मेरे पिता की सम्पत्ति में मेरा हिस्सा नहीं है। मेरे पति की सम्पत्ति भी मेरी नहीं है। असल में, ऐसा कोई घर नहीं, जिसे मैं अपना कह सकूँ। **(औरतों के लिए उत्तराधिकार या सम्पत्ति अधिकार का अभाव)**

जैसे ही हम टुकड़ों में बँटे हुए इन अलग–अलग अनुभवों पर सोच–विचार करते हैं तो एक साँझी तस्वीर बनती नज़र आती है। हमें यह पता चलता है कि प्रत्येक औरत को किसी–न–किसी रूप में इस भेदभाव का सामना करना पड़ता है। लडकों और मर्दों के मुकाबले लगातार छोटा और गिरा हुआ बताए जाने का अनुभव और एहसास, आत्म–सम्मान, आत्म–महत्व और आत्म–विश्वास को खत्म कर देता है। तथा स्त्रियों की इच्छाओं, आकांक्षाओं और सपनों के पर काट देता है। अपनी अहमीयत जताने के लिए उठाए गए हर मज़बूत कदम को नारीत्व के खिलाफ मान कर थू–थू की जाती है। ज्यों ही स्त्रियाँ पूर्व निश्चित हदों और भूमिकाओं के बाहर निकल कर कुछ नया करना चाहती हैं तो उन्हें बेशर्म और बेपर्दा कहा जाता है। ऐसे रिवाज़ और कायदे जो स्त्रियों को मर्दों से नीचा मानते हैं, वो सभी जगह मौजूद हैं। यह बात स्पष्ट है कि स्त्रियों के साथ जो कुछ हो रहा है, वह एक 'व्यवस्था' के तहत है, यह व्यवस्था पुरुष प्रधानता पुरुष उच्चता और पुरुष नियंत्रण की है, इसमें औरतों का दर्जा गिरा हुआ, कमज़ोर और अधिकारहीनता का है।

प्रश्न : पितृसत्तात्मक व्यवस्था के तहत किन–किन चीज़ों पर मर्दों का नियंत्रण होता है ?

उत्तर : पितृसत्तात्मक व्यवस्था का नियंत्रण जीवन के सभी क्षेत्रों में फैला हुआ है, जैसे कि :–

4. **औरतों की उत्पादन या श्रम शक्ति पर नियंत्रणः–** मर्द, घर के भीतर औरत द्वारा की जाने वाली मेहनत और घर के बाहर कमाई के लिए की जाने वाली मज़दूरी दोनों पर नियंत्रण रखते हैं। इसे "उत्पादन की पितृसत्तात्मक प्रणाली" का नाम दिया जाता है। इसके तहत पति तथा परिवार के अन्य सदस्य औरतों की मेहनत का फायदा उठाते हैं। घरेलू औरतें उत्पादन करने वाला वर्ग है और पति फायदा उठाने वाला वर्ग। औरत का चौबीस घण्टे चलने वाला उबाऊ काम और कमरतोड़ मेहनत को काम समझा ही नहीं जाता, और फिर भी उसे पति पर निर्भर व्यक्ति के रूप में देखा जाता है।
5. **औरतों की प्रजनन शक्ति पर नियंत्रणः–** अनेक समाजों में बच्चों की संख्या, उनके जन्म का समय, गर्भ निरोधकों का इस्तेमाल जैसे औरतों से ताल्लुक रखने वाले बुनियादी मुद्दों का फैसला भी खुद उनके हाथों में नहीं होता। औरतें कब और कितने बच्चे पैदा करें, या बिलकुल ना करें, इसका फैसला खुद कर पाने की आज़ादी के लिए लगभग सारी दुनिया की औरतें लगातार संघर्ष कर रही हैं। इस बात से साबित हो जाता है कि सरकार और धर्म के माध्यम से पुरुषों का यह नियंत्रण कितना कठोर है और ये सभी लोग इस नियंत्रण को छोड़ने को ज़रा भी तैयार नहीं हैं।
6. **औरतों की यौनिकता (सेक्सुअलिटी) पर नियंत्रणः–** ऐसा माना जाता है कि पुरुषों की इच्छाओं और ज़रूरतों के अनुसार औरतों को यौन सुख देना ही चाहिए। स्त्रियों की यौनिकता पर किसी एक पुरुष का ही अधिकार हो इसे सुनिश्चित करने के लिए उसकी पोशाक, चाल–ढाल पर कड़ा नियंत्रण रखा जाता है। स्त्री की यौनिकता उसके अपने अधिकार में नहीं रहती, वह दूसरों द्वारा नियंत्रित वस्तु हो जाती है। परिवार के भीतर तथा बाहर बलात्कार अथवा उसकी धमकी के ज़रिए भी यौनिकता पर काबू रखा जाता है। इसे और अधिक कारगर बनाने के लिए बलात्कार के साथ शर्मिन्दगी और बेइज्जती के भाव का एक बहुत बड़ा मायाजाल तैयार कर दिया गया है।
7. **औरतों की गतिशीलता पर नियंत्रणः–** औरतों की यौनिकता, उसके उत्पादन और प्रजनन पर नियंत्रण, रखने के लिए ज़रूरी है कि मर्द, औरतों के आने–जाने पर नियंत्रण रखे। इसके लिए कई तरीके अपनाए

गए हैं। पर्दा, घरेलू क्षेत्र तक उनके दायरे की सीमा, उस सीमा को छोड़ने पर रोक, पारिवारिक और सार्वजनिक दायरों के बीच बड़ा–सा फर्क, स्त्रियों और पुरुषों के बीच कम से कम सम्पर्क, आदि सभी बातें अपने ढंग से औरत की आज़ादी और गतिशीलता पर नियंत्रण रखती हैं। इनकी खासीयत ये है कि ये एक जेण्डर पर लागू होतीं हैं, दूसरे पर नहीं।

8. **सम्पत्ति तथा अन्य आर्थिक संसाधनों पर नियंत्रणः—** ज़्यादातर सम्पत्ति तथा अन्य आर्थिक संसाधनों पर मर्दों का नियंत्रण है और आमतौर पर ये एक मर्द से दूसरे मर्द, याने पिता से पुत्र के हाथों में जाती हैं। जहाँ कहीं औरतों को उत्तराधिकार का कानूनी हक मिला है, वहाँ भी सामाजिक रिवाज़, भावनात्मक दबाव, रिश्तों की राजनीति से लेकर साफ–साफ ज़ोर–जबरदस्ती का इस्तेमाल करके उन्हें अपने हक वास्तव में पाने से रोका जाता है।

प्रश्न : पितृसत्तात्मक व्यवस्था किन–किन राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक संस्थाओं पर नियंत्रण करती है?

उत्तर : समाज की सभी मुख्य संस्थाओं का विश्लेषण करें तो मालूम होता है कि इस व्यवस्था की कड़ियाँ आपस में बड़ी मज़बूती से जुड़ी हुईं हैं— कि इसे हिलाना भी असम्भव लगता है। कुछ हद तक तो व्यवस्था प्राकृतिक लगने लगती है, जो हमेशा से चली आई है और हमेशा चलती रहेगी। चलिए हम प्रत्येक पितृसत्तात्मक संस्था को अलग–अलग देखते हैं :—

1. **परिवारः—** परिवार, जो समाज की बुनियादी इकाई है, शायद सबसे अधिक पितृसत्तात्मक संस्था है। आने वाली पीढ़ियों को पितृसत्तात्मक मूल्य देने और सिखाने का काम भी परिवार करता है। परिवार के भीतर ही हम सबसे पहले ऊँच–नीच पदानुक्रम पर आधारित भेदभाव का पाठ पढ़ते हैं। लड़कों को दबावकारी बनने और रौब जमाने की सीख मिलती है, जबकि लड़कियों को दबने और भेदभाव स्वीकारने की। हालाँकि विभिन्न समाजों और परिवारों में पुरुष नियंत्रण का रूप और सीमा अलग–अलग हो सकती है, लेकिन ये पूरी तरह से गैर–मौजूद कभी नहीं होती। "परिवार अपने आईने में न सिर्फ सामाजिक व्यवस्था को प्रतिबिम्बित करता है, वरन् बच्चों को उसे मानने का पाठ भी पढ़ाता है, बल्कि परिवार लगातार उस व्यवस्था को गढ़ता है और मज़बूत करता चलता है।"

2. **धर्मः—** अधिकांश आधुनिक धर्म पितृसत्तात्मक हैं, जो पुरुष प्रभुत्व को सर्वोपरि मानते हैं। वे पितृसत्ता को इस ढंग से पेश करते हैं कि जैसे वह ईश्वर की इच्छा है। उन्होंने ही नैतिकता, नीतिशास्त्र, व्यवहार और यहाँ तक कि कानून की परिभाषाएँ तय की हैं, स्त्रियों व पुरुषों के कर्तव्य और अधिकार बताए हैं। उन दोनों के बीच का रिश्ता निश्चित किया है। वे सरकारी नीतियों पर भी असर डालते हैं और अधिकांश समाज में एक बड़ी ताकत के रूप में आज भी कारगर हैं। एक लोकतांत्रिक देश होते हुए भी विवाह, तलाक और उत्तराधिकार के मामलों में किसी भी व्यक्ति की कानूनी पहुँच उसके धर्म पर निर्भर करती है।

3. **कानूनी व्यवस्थाः—** अधिकांश देशों में कानूनी व्यवस्था पुरुष तथा आर्थिक रूप से सशक्त वर्ग की पक्षधर है। परिवार, विवाह और उत्तराधिकार सम्बन्धी कानून पितृसत्तात्मक सम्पत्ति नियंत्रण के साथ करीब से जुड़े हुए हैं। विधि–शास्त्र, कानूनी न्याय व्यवस्थाएँ, न्यायाधीश तथा वकील, सभी अधिकतर अपने दृष्टिकोण तथा कानूनी व्यवस्था में पितृसत्तात्मक सोच रखते हैं।

4. **आर्थिक व्यवस्था तथा आर्थिक संस्थाएँः—** पितृसत्तात्मक अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत, पुरुष आर्थिक संस्थाओं, अधिकांश सम्पत्ति व आर्थिक गतिविधियों पर नियंत्रण रखते है, वे ये भी तय करते हैं कि उत्पादन की विभिन्न कार्यवाहियों को कितनी अहमियत दी जाए। औरतों द्वारा किए जाने वाले अधिकांश उत्पादन कार्य का न तो भुगतान होता है और न ही अहमियत मिलती है। औरतों के घरेलू कामों का तो मूल्यांकन ही नहीं होता। खास बात यह है कि औरत की उत्पादक व बच्चों को पालने आदि की विभिन्न

भूमिकाओं को आर्थिक योगदान के रूप में देखा ही नहीं जाता।

5. **राजनैतिक व्यवस्था तथा संस्थाएँः–** ग्राम पंचायत से लेकर संसद तक सभी स्तरों पर समाज की सभी राजनैतिक संस्थाओं में पुरुषों का बोलबाला है हमारे देश का भाग्य तय करने वाले राजनैतिक दलों व संगठनों में मुट्ठीभर औरतें हैं। हालाँकि दक्षिण एशियाई देशों में इतनी अधिक औरतों ने सरकार की अगुआई की है, परन्तु जहाँ तक संसद में औरतों की मौजूदगी का सवाल है, दो–तीन देशों को छोड़कर दुनिया में कहीं भी उनकी संख्या 10 प्रतिशत से अधिक नहीं बढ़ी।

6. **जनसंचार माध्यमः–** वर्ग और जेण्डर से जुड़ी विचारधारा फैलाने के लिए उच्च वर्ग व उच्च जाति के मर्दों के हाथ में जनसंचार माध्यम एक बहुत मज़बूत औज़ार है। फिल्मों से लेकर टेलीविजन तक, पत्रिकाओं, अखबारों, रेडियो, सभी जगह औरत की वही घिसी–पिटी विकृत छवि को दर्शाया जाता है। लगातार शब्दों, छवियों के ज़रिए पुरुष उच्चता और स्त्री के नीचे दर्जे को जताने वाले सन्देश मिलते रहते हैं। दूसरे क्षेत्रों की ही तरह जनसंचार माध्यमों में भी पेशेवरों के रूप में स्त्रियों की संख्या बहुत कम है। रिपोर्ट लिखने, छापने, विज्ञापन व सन्देश देने का ढंग पूरी तरह औरतों के खिलाफ है, जो उन्हें एक कमज़ोर, गिरी हुई यौन वस्तु के रूप में देखता है।

7. **शिक्षण संस्थाएँ और ज्ञान व्यवस्थाएँः–** जब से ज्ञान को औपचारिक व संस्थागत रूप मिला तब से शिक्षा पर पुरुषों ने अपना कब्ज़ा जमा लिया। दर्शन, धर्मशास्त्र, विधि, विज्ञान, गणित, साहित्य, कला ज्ञान के सभी अंगों तथा शास्त्रों पर आरम्भ से ही पुरुषों का कब्ज़ा रहा है और उन्होंने ऐसी व्यवस्थाएँ बनाई जिससे कि महिलाओं के ज्ञान प्राप्त करना और उसके निर्माण में अपना योगदान देना असम्भव हो जाए। इसी कारण से आज हम देखते हैं कि शिक्षा के क्षेत्र में पुरुष वर्चस्व कायम है। हाल के दिनों में महिला शिक्षा के क्षेत्र में आगे बढ़ती हुई दिखती हैं, तथापि वे पुरुषों की तुलना में बहुत पीछे हैं। ज्ञान के निर्माण व प्रसार के पुरुषों के इस आधिपत्य के कारण औरतों की समझ, उनके अनुभव, उनकी योग्यता और आकांक्षाएँ शिक्षा व्यवस्था के हाशिए पर धकेल दी गई हैं। ये शिक्षा पुरुषों द्वारा नियंत्रित होने तथा पितृसत्ता के पक्ष में निर्मित होने के कारण औरत और मर्द के सोचने और समझने के तरीकों में भिन्नता पैदा करती है, जिससे स्त्री व पुरुष अलग–अलग ढंग से व्यवहार करते हैं, सोचते हैं, आकांक्षाएँ रखते हैं, क्योंकि उन्हें भेदभावपूर्ण पुरुषत्व और नारीत्व का सोच सिखलाया गया है।

प्रश्न : पितृसत्तात्मक व्यवस्था के ढाँचे की जड़ें इतनी गहरी हैं और ज़िन्दगी के हर पहलू में फैली हुई हैं, उन्हें कहाँ से काटना शुरू करेंगे और कैसे उनसे छुटकारा पाएँगे ?

उत्तर : किसी भी ढाँचे या स्थिति की ठीक से जाँच कर लेने मात्र से, उसकी तरफ गौर से बिना खौफ देख लेने मात्र से, उसका हौवा कम हो जाता है। उसका विकराल रूप फिर उतना डरावना नहीं लगता। अगर पितृसत्ता एक बड़ा जाल है, उसका एक पहलू दूसरे से जुड़ा हुआ है तो उसे एक जगह से काटेंगे तो दूसरी गाँठें भी कमज़ोर पड़ेंगी। पूरे जाल में हरकत होगी, पर हाँ, यह ज़रूरत है कि पितृसत्ता का ढाँचा कोई ऐसा नहीं है कि हम कुछ छोटे–मोटे कदम उठाएँ और वो हमारे सामने ढेर हो जाए। ढेर ये तभी होगा जब हर घर में हलचल होगी। जब हर औरत इसे बोझ समझेगी और इसे अपने सर से उतार फेंकना चाहेगी।

|||||||||

ग. विषमता और वहिष्कार

पठन सामग्री क्र.– 14

सामाजिक विषमता एवं बहिष्कार

अवसर, वंचना, बहिष्कार व शोषण

किसी भी व्यक्ति के सामने अपने जीवन के उद्देश्यों को पूरा करने के लिए, अपनी क्षमताओं को बढ़ाने के लिए, अपने व्यक्तित्व को व्यक्त करने के लिए, समाज में अपनी खास भूमिका को सुनिश्चित करने के लिए कितने विकल्प मौजूद हैं, कितने अवसर उपलब्ध हैं– इस बात से हम उस समाज व व्यक्ति की स्वतंत्रता व समृद्धता का आकलन कर सकते हैं।

इन्हें हासिल करने के लिए उसे परिश्रम तो जरूर करना होगा मगर उससे भी पहले उस व्यक्ति के सामने कितने विकल्प हैं जिनमें से उसे चुनाव करना है– यह महत्वपूर्ण है। अगर मान लीजिए कि मैंने यह जाना ही नहीं कि चूल्हा–चौका सम्भालना, पानी भरना, बच्चे पालना व रंगोली बनाने के अलावा भी मैं बहुत कुछ कर सकती हूँ जैसे नर्तकी बनना, चित्रकार बनना, डॉक्टर बनना, नेता बनना, खगोल शास्त्री बनना, गणितज्ञ बनना, हवाई जहाज उड़ाना, आदि। तब मेरे पास चुनने के लिए इतना ही बचता है कि मै सब्जी छोंककर बच्चे को नहलाऊँ या कपड़े धोकर नहलाऊँ। यानी, पहले उस व्यक्ति के पास चुनाव करने के लिए पर्याप्त विकल्प होने चाहिए– फिर मान लो मैं एक राह चुनती हूँ तो उसके लिए क्षमताएँ हासिल करने के मौके हों। मुझे इंजीनियर बनना हो तो पहले तो इंजिनियरिंग कॉलेज उपलब्ध होना चाहिए। अगर वहाँ पढ़ने के लिए फीस लगती है तो मेरे पास संसाधन होना चाहिए। और फिर समाज इस मानसिकता का शिकार न हो कि इंजिनियरिंग लड़कियों के लिए नहीं है।

एक व्यक्ति अपनी पसन्द से तय कर सकता है कि वह दिन में दो रोटी ही खाएगा – यह उसकी स्वतंत्र इच्छा है। लेकिन अगर यह समाजिक व्यवस्था के आधार पर तय होना है कि इसे तो दो रोटी ही खाना चाहिये, या फिर उसे दो रोटियाँ ही मिले तो ये उसके स्वतंत्र निर्णय को बाधित करता है– तो यह वास्तव में एक वंचना है।

समाज में उपलब्ध संसाधनों व अवसरों से दूर रखा जाना ही वंचना है। किसी को वंचित रखने का एक तरीका बहिष्कार' है। बहिष्कार शब्द को हम आम बोलचाल में– बाहर करने या मेल–जोल बन्द करने से जोड़ते हैं। मेरे भाई ने दूसरी जाति की लड़की से शादी कर ली– इस कारण जात वालों ने उसका बहिष्कार कर दिया। गांधी जी ने विदेशी कपड़ों का बहिष्कार करने को कहा था।

समाजशास्त्र मे बहिष्कार शब्द का एक खास अर्थ होता है– जैसे कि जातिवादी समाजों में दलितों को मन्दिरों के बाहर रखा गया, सभी महिलाओं और गैर ब्राह्मण पुरुषों को वेद अध्ययन से दूर रखा गया.... दलितों को जमीन के मालिक बनने से रोका गया। आज भी चूँकि स्तरीय शिक्षा महंगी है और ज्यादातर गरीब लोग उसे हासिल नहीं कर सकते हैं; वे एक तरह से स्तरीय शिक्षा से बहिष्कृत होते हैं। इस कारण सामान्यतया गरीब लोग– उद्योग, व्यापार, प्रशासन आदि के उच्च पदों से बहिष्कृत होते हैं।

परिवार व समाज को अगर हम गौर से देखें तो पाएँगे कि यह इस तरह के बहिष्कार व वंचनाओं से भरा पड़ा है।

इसका मतलब यह है कि ये सारे अवसर कुछ ही लोगों को उपलब्ध हैं और इस कारण उनका जीवन समृद्व होता जाता है– साधन, संसाधन, शिक्षा, पद; ये कुछ ही लोगों की बपौती बन जाते हैं। अन्य लोग उनकी सेवा में ही लगे रहते हैं। कानून जो भी कहे अन्य लोग उन चन्द लोगों की तुलना मे कम स्वतंत्र हैं।

इस तरह की वंचना व बहिष्कार से अधिकांश लोगों के शोषण का रास्ता खुल जाता है। कुछ ही लोगों के लिए अवसरों की भरमार है और ज्यादातर लोगों के पास जीवनयापन के लिए संभावनाएँ बहुत सीमित हैं और उन्हें अपने श्रम या उसकी उपज को उन खास लोगों के लिए जबरदस्ती त्यागना पड़ता है। अक्सर यह देखा जाता है कि जो लोग अधिक अवसर प्राप्त हैं वे उन सभी संसाधनों को अपने नियंत्रण मे रखते हैं जो जीविका हासिल करने के लिए जरूरी हैं– जैसे जंगल, पानी, ज़मीन, पूंजी, मशीन, कारखाने, यातायात के साधन आदि। इस कारण बाकी लोगों को अपनी जीविका चलाने के लिए इन संसाधन युक्त लोगों के लिए काम करना पड़ता है। दूसरी ओर उन्हें अपने उत्पादन का एक बड़ा हिस्सा उन लोगों को दे देना पड़ता है जिनके अधीन वे संसाधन हैं। यानी उनका श्रम अपने लिए नहीं दूसरों की खुशहाली के लिए होता है।

इस पूरे जंजाल को तोड़कर सभी को अवसर की समानता व स्वतंत्रता देना है तो कई तरह के प्रयासों की ज़रूरत है। इनके बारे मे हम आगे पढ़ेंगें। यहाँ हम सामाजिक असमानता व बहिष्कार कैसे काम करते हैं, इसे समझने का प्रयास करेंगे।

इसे टोलियों में धीरे–धीरे पढ़कर समझें व चर्चा करें। यह सामग्री "भारतीय समाज," कक्षा– 12 के लिए समाजशास्त्र की पाठ्यपुस्तक, अध्याय– 5 पृष्ठ क्र. 85 से 118, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद, नई दिल्ली, द्वारा प्रकाशित सामग्री है।

सामाजिक विषमता एवं बहिष्कार के स्वरूप

भारत में जन्में और यहीं पले–बड़े लोग जानते हैं कि सामाजिक विषमता एवं बहिष्कार जीवन की एक वास्तविकता है। हम गलियों में और रेलवे प्लेटफॉर्म पर भिखारियों को देखते हैं। हम छोटे–छोटे बच्चों को घरेलू नौकर, भवन निर्माण का कार्य करते हुए, सड़क के किनारे बने ढाबों, चाय की दुकानों में सफाई करने वालों और काम करने वालों के रूप में देखते हैं । हम इन छोटे बच्चों को, जो कि नगरीय मध्य वर्ग के घरों में घरेलू नौकर के रूप में काम करते हैं, अपने से बड़े बच्चों का बस्ता ढोते हुए देखकर आश्चर्यचकित नहीं होते हैं। यह हमें एक अन्याय के रूप में महसूस ही नहीं होता कि कुछ बच्चों को शिक्षा से वंचित किया जा रहा है। हममें से कुछ विद्यालयों में बच्चों के साथ जातिगत भेदभाव के बारे में पढ़ते हैं और कुछ इसका सामना करते हैं। इसी प्रकार महिलाओं के खिलाफ हिंसा एवं अल्पसंख्यक समूहों तथा अन्यथा सक्षम लोगों के बारे में पूर्वाग्रह की खबरें भी हम रोजाना पढ़ते हैं।

सामाजिक असमानता एवं बहिष्कार का यह रोज़मर्रापन– इनका इस प्रकार रोज़ाना घटित होना इन्हें स्वाभाविक बना देता है। हमें लगने लगता है कि यह एकदम सामान्य बात है, ये कुदरती चीज़ें हैं जिन्हें बदला नहीं जा सकता। अगर हम असमानता या बहिष्कार को कभी–कभी अपरिहार्य नहीं भी मानते हैं तो अक्सर उन्हें उचित या "न्यायसंगत" भी मानते हैं। शायद लोग गरीब अथवा वंचित इसलिए होते हैं क्योंकि उनमें या तो योग्यता नहीं होती या वे अपनी स्थिति को सुधारने के लिए पर्याप्त परिश्रम नहीं करते। ऐसा मानकर हम उन्हें ही उनकी परिस्थितियों के लिए दोषी ठहराते हैं। यदि वे अधिक परिश्रम करते या बुद्धिमान होते तो वहाँ नहीं होते जहाँ वे आज हैं।

गौर से देखने पर हम यह पाते हैं कि जो लोग समाज के सबसे निम्न स्तर पर हैं, वे ही सबसे ज़्यादा परिश्रम करते हैं। एक दक्षिण अमेरिकी कहावत है, "यदि परिश्रम इतनी ही अच्छी चीज़ होती तो अमीर लोग हमेशा उसे अपने लिए बचा कर रखते"। सम्पूर्ण विश्व में पत्थर तोड़ना, खुदाई करना, भारी वजन उठाना, रिक्शा या ठेला खींचना जैसे कमरतोड़ काम गरीब लोग ही करते हैं, फिर भी वे अपना जीवन शायद ही सुधार पाते हैं। ऐसा कितनी बार होता है कि कोई गरीब मज़दूर एक छोटा–मोटा ठेकेदार भी बन पाया हो? ऐसा तो केवल फिल्मों

में ही होता है कि सड़क पर पलने वाला एक बच्चा उद्योगपति बन सकता है, परन्तु फिल्मों में भी अधिकतर यही दिखाया जाता है कि ऐसे नाटकीय उत्थान के लिए गैर–कानूनी या अनैतिक तरीका ज़रूरी है।

क्रियाकलाप

अपने पड़ोस में रहने वाले कुछ धनी और गरीब व्यक्तियों की तलाश करें जिनसे आप या आपका परिवार परिचित है। (उदाहरण– कोई रिक्शावाला या कुली या घरेलू नौकर और कोई सिनेमाघर का मालिक या ठेकेदार या होटल मालिक या डॉक्टर, – आपके परिवेश में कुछ और भी व्यक्ति हो सकते हैं) प्रत्येक समूह के एक व्यक्ति से उसकी दिलचस्पी मालूम करें। प्रत्येक व्यक्ति के प्रतिदिन के क्रियाकलाप यानी कार्य के सामान्य दिनों में सुबह उठने से लेकर रात को सोने तक की गतिविधियों को डायरीबद्ध करें। इन डायरियों के आधार पर निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दें तथा अपने सहपाठियों के साथ विचार–विमर्श करें।

1. **ये व्यक्ति कितने घण्टे काम करते हैं ? वे किस तरह का काम करते हैं ? क्या उनका काम थकाने वाला, तनावयुक्त, सुखद या अरूचिकर है? कार्य स्थल पर उनके अन्य व्यक्तियों से कैसे सम्बन्ध होते हैं – क्या वे दूसरों को आदेश देते हैं या दूसरों के आदेशों का पालन करते हैं? क्या वे दूसरों के सहयोग पर निर्भर हैं या दूसरों पर नियंत्रण रखते हैं? जिनके साथ वे काम करते हैं क्या वे उनसे आदरपूर्वक व्यवहार करते हैं या उन्हें ही दूसरे व्यक्तियों को आदर देना पड़ता है?**

   ऐसा भी हो सकता है कि गरीब और कभी–कभार धनी व्यक्ति भी कोई काम न कर रहा हो या अभी उसके पास काम न हो। यदि ऐसा है तब भी आप उनकी दिनचर्या मालूम करें और निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दें।
2. **वह व्यक्ति "बेरोजगार" क्यों है? क्या वह कोई काम ढूँढ रहा है? वह अपना जीवन निर्वाह कैसे करता है? उनकी बेरोजगारी का उन पर क्या प्रभाव पड़ता है? क्या उनकी जीवनशैली अब उस समय से अलग है जब वह काम कर रहे थे?**

क्रियाकलाप– आपको सामान्य तौर पर व्याप्त इस सहजबोध पर पुनः विचार करने के लिए प्रेरित करता है कि एक व्यक्ति के जीवन में सिर्फ कठोर परिश्रम से सुधार सम्भव है। यह सच है कि कठोर परिश्रम तथा व्यक्तिगत योग्यता महत्वपूर्ण है। यदि बाकी सभी चीज़ें बराबर हों, तब व्यक्तिगत प्रयास, योग्यता एवं भाग्य ही व्यक्तियों के बीच के अन्तर के लिए उत्तरदायी हैं। लेकिन जैसा कि हमेशा होता है, सभी चीज़ें एक समान नहीं होती हैं। यही अवैयक्तिक अथवा सामूहिक विभिन्नताएँ सामाजिक असमानता एवं बहिष्कार को स्पष्ट करती हैं।

5.1 सामाजिक विषमता एवं बहिष्कार सामाजिक कैसे हैं?

इस खण्ड में पूछे गये प्रश्न के तीन प्रमुख उत्तर हो सकते हैं, जो संक्षिप्त रूप से इस प्रकार हैं– पहला, सामाजिक विषमता (असमानता) एवं बहिष्कार सामाजिक इसलिए हैं क्योंकि वे व्यक्ति से नहीं बल्कि समूह से सम्बद्ध हैं। दूसरे, ये सामाजिक हैं क्योंकि ये आर्थिक नहीं हैं, यद्यपि सामाजिक तथा आर्थिक असमानता में सामान्यतः एक मजबूत सम्बन्ध होता है। तीसरे, ये व्यवस्थित एवं संरचनात्मक हैं अर्थात् सामाजिक असमानता का एक निश्चित स्वरूप है। "सामाजिकता" के इन तीनों अर्थों पर आगे संक्षेप में विश्लेषण किया जाएगा।

सामाजिक विषमता

प्रत्येक समाज में कुछ लोगों के पास धन, सम्पदा, शिक्षा, स्वास्थ्य एवं शक्ति जैसे मूल्यवान संसाधन का दूसरों की अपेक्षा ज़्यादा बड़ा हिस्सा होता है। यह सामाजिक संसाधन पूँजी के तीन रूपों में विभाजित किए जा सकते हैं– भौतिक संपत्ति एवं आय के रूप में आर्थिक पूँजी, प्रतिष्ठा और शैक्षणिक योग्यताओं के रूप में सांस्कृतिक पूँजी, सामाजिक संगतियों एवं सम्पर्कों के जाल के रूप में सामाजिक पूँजी (बोरदयू, 1980)। पूँजी के ये तीनों रूप अक्सर आपस में घुले–मिले होते हैं। तथा एक को दूसरे में बदला जा सकता है। उदाहरणतया, एक सम्पन्न परिवार का व्यक्ति अपनी आर्थिक पूँजी के जरिए महंगी उच्च शिक्षा प्राप्त कर सकता है, इस तरह वह अपनी

आर्थिक पूँजी को सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक स्वरूप दे सकता है। उसी प्रकार एक अन्य व्यक्ति अपने प्रभावशाली मित्रों व सम्बन्धियों (यानी अपनी सामाजिक पूँजी) के जरिए सामाजिक पूँजी को आर्थिक पूँजी में बदल सकता है।

सामाजिक संसाधनों तक असमान पहुँच की पद्धति ही साधारणतया सामाजिक विषमता कहलाती है। कुछ सामाजिक विषमताएँ व्यक्तियों के बीच स्वाभाविक भिन्नता को प्रतिबिम्बित करती हैं। उदाहरणस्वरूप, उनकी योग्यता एवं प्रयास में भिन्नता। कोई व्यक्ति असाधारण बुद्धिमान या प्रतिभावन हो सकता है तथापि सामाजिक विषमता व्यक्तियों के बीच सहज या "प्राकृतिक" भिन्नता की वजह से नहीं है, बल्कि यह उस समाज द्वारा उत्पन्न की जाती है जिसमें वे रहते हैं। वह व्यवस्था, जो एक समाज में लोगों का वर्गीकरण करते हुए एक अधिक्रमित संरचना (Hierarchy structure) में उन्हें श्रेणीबद्ध करती है उसे समाजशास्त्री सामाजिक स्तरीकरण कहते हैं। यह अधिक्रम लोगों की पहचान एवं अनुभव, उनके दूसरों से सम्बन्ध तथा साथ ही संसाधनों एवं अवसरों तक उनकी पहुँच को आकार देता है। तीन मुख्य सिद्धान्त सामाजिक स्तरीकरण को समझने में मदद करते हैं

1. सामाजिक स्तरीकरण व्यक्तियों के बीच की विभिन्नता का प्रकार्य ही नहीं बल्कि समाज की एक विशिष्टता है। सामाजिक स्तरीकरण समाज में व्यापक रूप से पाई जाने वाली व्यवस्था है जो सामाजिक संसाधनों को, लोगों की विभिन्न श्रेणियों में, असमान रूप से बाँटती है। तकनीकी रूप से सबसे अधिक आदिम समाजों में, जैसे, शिकारी एवं संग्रहकर्ता समाज, उत्पादन बहुत कम होता था, अतः उन समाजों में केवल प्रारंभिक सामाजिक स्तरीकरण ही मौजूद था। तकनीकी रूप से अधिक उन्नत समाज में जहाँ लोग अपनी मूलभूत ज़रूरतों से अधिक उत्पादन करते हैं, सामाजिक संसाधन विभिन्न सामाजिक श्रेणियों में असमान रूप से बँटा होता है, जिसका लोगों की व्यक्तिगत क्षमता से कुछ भी लेना–देना नहीं होता है।

2. सामाजिक स्तरीकरण पीढ़ी–दर–पीढ़ी बना रहता है। यह परिवार और सामाजिक संसाधनों के एक पीढ़ी से अगली पीढ़ी में उत्तराधिकार के रूप में घनिष्टता से जुड़ा है। व्यक्ति की सामाजिक स्थिति प्रदत्त अर्थात् अपने आप मिली हुई होती है। अर्थात् बच्चे अपने माता–पिता की सामाजिक स्थिति को पाते हैं। जाति व्यवस्था के अन्दर, जन्म ही व्यावसायिक अवसरों को निर्धारित करता है। एक दलित, पारम्परिक व्यवसाय जैसे, खेतिहर मजदूर, सफाईकर्मी या चमड़े का कार्य में ही बँधकर रह जाता है और उसके पास ऊँची तनख्वाह वाली सफेदपोश नौकरी या पेशेवर नौकरी के अवसर बहुत कम होते हैं। सामाजिक असमानता का प्रदत्त पक्ष अन्तर्विवाह प्रथा से और सुदृढ़ होता है। चूँकि विवाह अपनी जाति के सदस्यों तक ही सीमित है, अतः अन्तरजातीय विवाह द्वारा जातीय विभाजनों को क्षीण करने की सम्भावना खत्म हो जाती है।

3. सामाजिक स्तरीकरण को विश्वास या विचारधारा द्वारा समर्थन मिलता है। सामाजिक स्तरीकरण की कोई भी व्यवस्था पीढ़ी–दर–पीढ़ी नहीं चल सकती जब तक कि व्यापक तौर पर यह माना न जाता हो कि वह या तो न्यायसंगत या अपरिहार्य है। उदाहरण के लिए, जाति व्यवस्था को धार्मिक या कर्मकाण्डीय दृष्टिकोण से शुद्धता एवं अशुद्धता के आधार पर न्यायोचित ठहराया जाता है, जिसमें जन्म और व्यवसाय की बदौलत ब्राह्मणों को सबसे उच्च स्थिति और दलितों को सबसे निम्न स्थिति दी गई है। यद्यपि ऐसा नहीं है कि हर व्यक्ति असमानता की इस व्यवस्था को ठीक मानता है। ज़्यादातर लोग, जिन्हें अधिक सामाजिक विशेषाधिकार प्राप्त हैं, वहीं सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था जैसे जाति तथा उपजाति का जोरदार समर्थन करते हैं। जो इस अधिक्रम में सबसे नीचे हैं और इस वजह से शोषित तथा अपमानित हुए हैं, वही इसे सबसे ज्यादा चुनौती दे सकते हैं।

हम अक्सर सामाजिक भेदभाव और बहिष्कार की केवल आर्थिक संसाधनों के विभेदीकरण के रूप में ही चर्चा करते हैं। जबकि यह आंशिक रूप से ही सत्य है। लोग ज़्यादातर अपने लिंग, धर्म, नृजातीयता, भाषा, जाति तथा विकलांगता की वजह से भेदभाव और बहिष्कार का सामना करते हैं। अतः अभिजात्य वर्ग की कोई महिला भी

सार्वजनिक स्थान पर यौन उत्पीड़न की शिकार हो सकती है। एक धार्मिक या नृजातीय अल्पसंख्यक समूह के मध्य वर्ग के पेशेवर व्यक्ति को भी महानगर की एक मध्य वर्ग कालोनी में रहने के लिए घर लेने में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। लोग दूसरे सामाजिक समूहों के बारे में पूर्वाग्रह से ज़्यादातर ग्रस्त होते हैं। हम सब एक समुदाय के सदस्य के रूप में बड़े होते हैं जिससे हम अपने "समुदाय", "जाति", "वर्ग" या "लिंग" के बारे में ही नहीं बल्कि इसके अलावा दूसरों के बारे में भी धारणाएँ बनाते हैं। यह धारणाएँ पूर्वाग्रहित होती हैं।

पूर्वाग्रह एक समुह के सदस्यों द्वारा दूसरे समूह के बारे में पूर्वकल्पित विचार या व्यवहार होता है। इस शब्द का अक्षरशः अर्थ "पूर्वनिर्णय" है अर्थात् वह धारणा जो बिना विषय को जाने और बिना उसके तथ्यों को परखे शुरुआत में ही बना ली जाती है। एक पूर्वाग्रहित व्यक्ति के पूर्वकल्पित विचार सबूत–साक्ष्यों के विपरीत सुनी–सुनाई बातों पर आधारित होते हैं। यह नई जानकारी प्राप्त होने के बावजूद बदलने से इन्कार करते हैं। पूर्वाग्रह सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों हो सकता है। वैसे ज़्यादातर यह शब्द नकारात्मक रूप से लिए गये पूर्वनिर्णयों के लिए इस्तेमाल होता है पर यह स्वीकारात्मक पूर्वनिर्णयों पर भी लागू होता है। उदाहरणतया, एक व्यक्ति अपनी जाति और समूह के सदस्यों के पक्ष में पूर्वाग्रहित हो सकता है और उन्हें बिना किसी सबूत के दूसरी जाति या समूह के सदस्यों से श्रेष्ठ मान सकता है।

पूर्वाग्रह ज्यादातर एक समूह के बारे में अपरिर्वतनीय, कठोर और रूढ़िबद्ध धारणाओं पर आधारित होते हैं। रूढ़िबद्ध धारणाएँ ज्यादातर नृजातीय और प्रजातीय समूहों और महिलाओं के बारे में प्रयोग की जाती है। भारत जैसे देश में जो बहुत समय तक एक उपनिवेश रहा है, कई रूढिबद्ध विचार औपनिवेशिक देन हैं। कुछ समुदायों को "वीर प्रजाति" की संज्ञा दी गई तो कुछ को कायर या पौरुषहीन और कुछ को दगाबाज़ कहा गया। अँग्रेज़ी व भारतीय भाषाओं की कथाओं में हम कई बार पाते हैं कि किसी पूरे के पूरे समुदाय को "आलसी" या "चालाक" कहा जाता है। यह सही है कि कुछ व्यक्ति किसी समय आलसी या चालाक, बहादुर या कायर हो सकते हैं किन्तु ऐसा सामान्य कथन सभी समूहों के कुछ व्यक्तियों के बारे में सच हो सकता है, पूरे समुदाय के लिए नहीं। लेकिन ऐसे व्यक्तियों के बारे में भी यह हमेशा सच नहीं होता–वही व्यक्ति भिन्न समयों में आलसी और परिश्रमी हो सकते हैं। रूढ़िबद्ध धारणा पूरे समूह को एक समान श्रेणी में स्थापित कर देती है और इस धारण के अन्तर्गत व्यक्तिगत, समयानुरूप या परिस्थिति अनुरूप भिन्नता को भी नकार दिया जाता है। इसके अनुसार पूरे समुदाय को एकल व्यक्ति के रूप में देखा जाता है, मानों उसमें एक की विशेषता या लक्षण हो।

क्रियाकलाप

1. **फिल्मों तथा उपन्यासों से पूर्वाग्रहित व्यवहार के उदाहरण एकत्रित करें।**
2. **स्वयं तथा अपने सहपाठियों द्वारा एकत्रित किए गये उदाहरणों पर चर्चा करें। एक सामाजिक समूह को जिस प्रकार से चित्रित किया है उससे पूर्वाग्रह कैसे प्रदर्शित होते हैं? हम यह निर्णय कैसे करें कि एक चित्रण पूर्वाग्रहित है अथवा नहीं?**
3. **क्या आप नियोजित पूर्वाग्रह अर्थात् जानबूझकर ऐसा करना जैसे एक फिल्मकार या लेखक पूर्वाग्रह दिखाना चाहता था और जानबूझकर किए गए पूर्वाग्रहों में अन्तर कर सकते हैं?**

यदि पूर्वाग्रह मनोवृत्ति और विचारों को दर्शाता है तो भेदभाव दूसरे समूह अथवा व्यक्ति के प्रति किया गया व्यवहार है। भेदभाव को व्यावहारिक रूप में इस प्रकार भी देखा जा सकता है जिसके तहत एक समूह के सदस्य उन अवसरों के लिए अयोग्य करार दिये जाते हैं जो दूसरे के लिए खुले होते हैं जैसे, जब एक व्यक्ति को उसके लिंग अथवा धर्म के आधार पर नौकरी देने से मना कर दिया जाता है। भेदभाव को प्रमाणित करना बहुत कठिन है, क्योंकि हो सकता है कि यह न तो खुले तौर पर हो और न ही स्पष्टतया घोषित हो। भेदभावपूर्ण व्यवहार को इस तरह भी प्रदर्शित किया जा सकता है जैसे कि वह दूसरे कारणों द्वारा प्रेरित हो, जो भेदभाव की तुलना में ज़्यादा न्यायसंगत कारण प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए, जिस व्यक्ति को उसकी जाति के आधार पर नौकरी देने से मना किया गया है उसको कहा जा सकता है कि उसकी योग्यता दूसरों से कम है तथा चयन पूर्णरूप से योग्यता के आधार पर किया गया है।

सामाजिक अपवर्जन या बहिष्कार

सामाजिक बहिष्कार वह तौर–तरीके हैं जिनके जरिए किसी व्यक्ति या समूह को समाज में पूरी तरह घुलने–मिलने से रोका जाता है व अलग या पृथक रखा जाता है। यह उन सभी कारकों पर ध्यान दिलाता है जो व्यक्ति या समूहों को उन अवसरों से वंचित करते हैं जो अधिकांश जनसंख्या के लिए खुले होते हैं। भरपूर तथा क्रियाशील जीवन जीने के लिए, व्यक्ति को जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं (जैसे रोटी, कपड़ा तथा मकान) के अलावा अन्य आवश्यक वस्तुओं और सेवाओं (जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, यातायात के साधन, बीमा, सामाजिक सुरक्षा, बैंक तथा यहाँ तक कि पुलिस एवं न्यायपालिका) की भी जरूरत होती है। सामाजिक भेदभाव आकस्मिक या अनायास रूप से नहीं बल्कि व्यवस्थित तरीके से होता है। यह समाज की संरचनात्मक विशेषताओं का परिणाम है।

यहाँ इस बात पर ध्यान देना महत्वपूर्ण है कि सामाजिक बहिष्कार अनैच्छिक होता है, अर्थात् बहिष्कार बहिष्कृत लोगों की इच्छाओं के विरूद्ध कार्यान्वित होता है। उदाहरण के लिए, शहरों तथा कस्बों में हम हज़ारों बेघर गरीब लोगों की तरह धनी व्यक्तियों को कभी भी फुटपाथ पर सोते हुए नहीं देखते हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि धनी व्यक्ति फुटपाथ या पार्कों का प्रयोग करने से "बहिष्कृत" हैं। यदि वे चाहें तो निश्चित रूप से इनका प्रयोग कर सकते हैं, परन्तु वे फुटपात पर चलकर और पार्क में घूमकर उसका प्रयोग ही तो करते है। सामाजिक भेदभाव को कभी–कभी इस गलत तर्क से न्यायसंगत ठहराया जाता है कि बहिष्कृत समूह स्वयं ही सम्मिलित होने को इच्छुक नहीं है। इस तरह का तर्क इच्छित या चहेती चीज़ों के सन्दर्भ में सरासर गलत है (यह उस स्थिति से बिल्कुल अलग है, जहाँ अमीर लोग स्वेच्छा से फुटपाथ पर नहीं सोते या बोझा ढोने का काम नहीं करते)।

भेदभाव अथवा अपमानजनक व्यवहार का लम्बा अनुभव प्रायः इस तरह की प्रतिक्रिया के रूप में प्रकट होता है कि बहिष्कृत व्यक्ति मुख्यधारा में शामिल होने के प्रयास अक्सर बन्द कर देते हैं। उदाहरण के लिए, 'उच्च' जातीय हिन्दू समुदायों ने अक्सर 'निम्न' जातियों के (विशेष रूप से दलितों के) मन्दिर में प्रवेश पर पाबन्दी लगाई है। दशकों तक इस तरह के बर्ताव के पश्चात् दलितों ने अपने मन्दिर बना लिए या बौद्ध, ईसाई या इस्लाम जैसे अन्य धर्म को अपना लिया। ऐसा करने के बाद वे हिन्दू मन्दिर में प्रवेश करने या किसी भी धार्मिक उपलक्ष्य में सम्मिलित होने के इच्छुक नहीं होंगे। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि सामाजिक बहिष्कार नहीं किया जाता ऐसी स्थिति बहिष्कार व अपमान के लम्बे अनुभव से ही उपजती है। महत्वपूर्ण बात यह है कि बहिष्कार बहिष्कृत व्यक्ति की इच्छा अनिच्छा की तरफ ध्यान ही नहीं देता।

अधिकांश समाजों की तरह भारत में भी सामाजिक भेदभाव तथा बहिष्कार चरम रूप में पाया जाता है। इतिहास की विभिन्न अवधियों में जाति, लिंग तथा धार्मिक भेदभाव के विरूद्ध आन्दोलन हुए हैं। लेकिन इसके बावजूद पूर्वाग्रह बना रहता है तथा अक्सर नए पूर्वाग्रह उत्पन्न हो जाते हैं। अतः कानून अकेले अपने बूते पर समाज को रूपान्तरित करने अथवा स्थायी सामाजिक परिर्वतन लाने में असमर्थ है। यह सब समाप्त करने के लिए परिवर्तन, जागरूकता एवं संवेदनशीलता के साथ एक सतत् सामाजिक अभियान की आवश्यकता है।

भेदभाव तथा बहिष्कार का क्या अर्थ है? यह समृद्ध भारतीयों को तब समझ आया जब वे ब्रिटिश उपनिवेशिक राज्यों के हाथों इसका शिकार हुए। इस प्रकार के अनुभव, निःसन्देह विभिन्न सामाजिक भेदभावग्रस्त समूहों (जैसे, महिलाओं, दलितों तथा अन्य उत्पीड़ित जातियों एवं जनजातियों) के लिए सामान्य थे। लेकिन उपनिवेशवाद ने अभिजात्य वर्ग को भी भेदभाव से अवगत कराया। औपनिवेशिक शासन के अपमानजनक व्यवहार का सामना करने के साथ–साथ लोकतंत्र तथा न्याय के विचारों से परिचित होने से भारतीयों ने बहुत से समाज सुधार आन्दोलनों को प्रारम्भ किया एवं उनमें सम्मिलित हुए।

इस अध्याय में हम ऐसे चार समूहों पर प्रकाश डालेंगे जो गम्भीर सामाजिक विषमता एवं बहिष्कार के शिकार रहे हैं, मुख्यतः दलित या पूर्व–अछूत जातियाँ, आदिवासी अथवा वे समुदाय जिन्हें 'जनजाति' माना जाता है,

महिलाएँ तथा अन्यथा सक्षम लोग । निम्नलिखित भागों में हम प्रत्येक के संघर्ष एवं उपलब्धि की कहानी पर प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे।

जाति और जनजातिः दो व्यवस्थाएँ जो विषमता को कायम रखती हैं एवं न्यायसंगत सिद्ध करती हैं।

जातिः एक भेदभावपूर्ण व्यवस्था

जाति व्यवस्था एक विशिष्ट भारतीय सामाजिक संस्था है जो विशेष जातियों में पैदा हुए व्यक्तियों के विरुद्ध भेदभावपूर्ण व्यवहार को लागू करती है एवं न्यायसंगत ठहराती है। भेदभाव के ये व्यवहार अपमानजनक बहिष्कारी तथा शोषणकारी हैं।

ऐतिहासिक रूप से, जाति व्यवस्था व्यक्तियों का उनके व्यवसाय तथा प्रस्थिति के आधार पर वर्गीकरण करती थी। प्रत्येक जाति एक व्यवसाय से जुड़ी थी; इसका तात्पर्य है कि एक विशेष जाति में जन्मा व्यक्ति उस व्यवसाय में भी "जन्म लेता" था जो उसकी जाति से जुड़ा था– उसके पास कोई विकल्प नहीं था। इसके अतिरिक्त, शायद इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि प्रत्येक जाति का सामाजिक प्रस्थिति या हैसियत के अधिक्रम में एक विशेष स्थान भी होता था। अतः मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि सिर्फ सामाजिक प्रस्थिति के अनुसार ही व्यावसायिक श्रेणियाँ श्रेणीबद्ध नहीं थीं, बल्कि प्रत्येक वृहत व्यावसायिक श्रेणी के अन्दर पुनः श्रेणीक्रम था। धर्मग्रन्थ के सख्त नियमों के अनुसार सामाजिक तथा आर्थिक प्रस्थिति को निश्चित रूप से अलग रखा जाता था। उदाहरण के लिए आनुष्ठानिक रूप से सबसे ऊँची जाति, ब्राह्मण को धन संचय की अनुमति नहीं थी, ब्राह्मण धार्मिक या (पर–लौकिक) क्षेत्र में सर्वोपरि होने के बावजूद क्षत्रीय राजाओं की इह–लौकिक (या धर्म से परे) शक्ति के अधीन होते थे। दूसरी तरफ उच्चतम चिरकालिक प्रस्थिति एवं शक्ति के बावजूद, राजा आनुष्ठानिक–धार्मिक क्षेत्र में ब्राह्मणों के अधीन होते थे।

हालाँकि वास्तविक ऐतिहासिक व्यवहार में सामाजिक तथा आर्थिक प्रस्थिति एक दूसरे के अनुरूप होती थी। अतः स्पष्टतया सामाजिक (जैसे, जाति) तथा आर्थिक हैसियत में घनिष्ठ सम्बन्ध था– "उच्च" जातियाँ प्रायः निर्विवाद रूप से उच्च आर्थिक प्रस्थिति की थीं, जबकि "निम्न" जातियाँ प्रायः निम्न आर्थिक स्थिति की होती थीं। आधुनिक काल में, विशेष रूप से 19वीं सदी से, जाति तथा व्यवसाय के बीच के सम्बन्ध काफी ढीले हुए हैं। व्यावसायिक परिवर्तन सम्बन्धित आनुष्ठानिक–धार्मिक प्रतिबन्ध आज उतनी आसानी से नहीं लागू किए जा सकते हैं, तथा पहले की अपेक्षा अब व्यवसाय परिवर्तन आसान हो गया है। इसके अतिरिक्त, सौ या पचास वर्ष पहले की तुलना में, जाति तथा आर्थिक स्थिति के सहसम्बन्ध कमजोर हुए हैं। आज अमीर तथा गरीब लोग हर जाति में पाए जाते हैं। व्यवस्था के थोड़ा कम सख्त होने पर मोटे तौर पर समान सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति वाली जातियों के बीच का फासला कम हुआ है। परन्तु विभिन्न सामाजिक–आर्थिक समूहों के बीच जातीय अन्तर अभी भी बना हुआ है।

यद्यपि समाज निश्चित रूप से बदला है, लेकिन व्यापक स्तर पर बहुत ज़्यादा परिवर्तन नहीं हुआ है। यह आज भी सच है कि समाज का साधन–सम्पन्न व ऊँचे ओहदे वाले वर्ग में अत्याधिक कथित "उच्च" जाति के लोग हैं। जबकि वंचित (तथा निम्न आर्थिक स्थिति वाले) वर्ग में कथित "निम्न" जातियों की प्रधानता है। इसके अतिरिक्त, कथित "ऊँची" व "नीची" जातियों के गरीब और सम्पन्न तबकों के अनुपात में जमीन–आसमान का फर्क है। (सारणी 1 और 2 देखें)। संक्षेप में कहें तो यह सच है कि एक सदी से चल रहे सामाजिक आन्दोलनों ने कई महत्वपूर्ण परिवर्तन किए, उत्पादन व्यवसाय में भारी बदलाव आए, तथा साथ ही स्वतंत्र भारत की राजसत्ता ने सार्वजनिक क्षेत्र में जाति पर अंकुश लगाने की भरपूर कोशिश की। लेकिन इन परस्पर प्रयत्नों के बावजूद 21वीं सदी में भी जाति भारतीयों के जीवन अवसरों को सतत् प्रभावित कर रही है।